२८८



प्रस्तुत अनुवाद में मूल के भावार्थ के अतिरिक्त अनेकों टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। टिप्पणियों का आधार प्रधानतया श्रीरामतीर्थस्वामी की टीका रही है। तथा अनुवाद में श्रीयुत अक्षयकुमारशास्त्री के बँगला अनुवाद से सहायता ली गयी है। अतः उक्त दोनों महानुभावों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह अनुवाद आज से प्रायः दस वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका था। किन्तु समय की विपरीतता के कारण अभी तक इसे किन्हीं प्रकाशक महोदय का आश्रय नहीं मिला। समय अब भी प्रकाशन के अनुकूल नहीं है। तथापि हमारे अत्यन्त आग्रह से **श्री भार्गवपुस्तकालय काशी के अध्यक्ष पं० कैलासनाथ भार्गव ने इसे** प्रकाशन के लिये स्वीकार कर लिया है—यह प्रसन्नता की बात है। देखें, यह ग्रन्थरत्न कब हिन्दीभाषा-भाषियों के सामने छपकर आता है।

भगवान् शंकर की लेखनी अत्यन्त गम्भीर है। उसका पूर्णतया अवगाहन करना अच्छे अच्छे विद्वानों के लिये भी कठिन है। मैं तो किसी भी प्रकार उसका अधिकारी नहीं हूँ। अतः इस बालचापल्य में त्रुटियों का रहना असम्भव नहीं है। विद्वद्वृन्द यदि मुझे या प्रकाशक महोदय को उनकी सूचना देने की कृपा करेंगे तो हम उनके अत्यन्त आभारी होंगे।

केदारआश्रम, हृषीकेश
फाल्गुनी अमावास्या सं २००२ वि.

विनीत
मुनिलाल



विषयानुक्रमणिका

गद्यबन्ध प्रथम भाग

पद्यबन्ध द्वितीय भाग

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१६	में सा	में स्थित' ऐसा
७	१८	क्षेत्रज्ञ	क्षेत्रज्ञं
६	७	-प्रवन्धचक्र	प्रवन्धचक्रे
१४	१७	-धमवर्जितो	-धर्मवर्जितो
१८	१६	कम-	कर्म-
१६	७	तो	जो
२५	४	सम	स म
२६	८	बुद्धि स्थित	बुद्धि में स्थित
२८	२२	एक	एका
४३	२२	बुद्धि-शक्ति	बुद्धिवृत्ति
४५	२२	का	को
४६	११	मुझे	मुझ
५४	१६	शक्ति	शुक्ति
६०	६	उत्पन्न	उपपन्न
६१	६	कूटस्थता	कूटस्था
६२	१५	कूटस्थता	कूटस्था
६३	६	अगवर्ति	अवगति
७१	६	सन्वन्ध	सम्बन्ध
७३	२	प्रकीतिता	प्रकीर्तिता
७३	२१	-विद्यात्थं	-विद्योत्थं
७६	८	वह	यह
८८	२०	आकाशभूत	आश्रयभूत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९१	१७	सवदा	सर्वदा
९४	६	युक्त	मुक्त
९४	१५	एतावच्चमृतत्वं	एतावद्धयमृतत्वं
९७	१	नति	नेति
९८	६	नेति	नेति
९९	१८	र्कं	कि
१०४	१६	-शरीरत्वाव्योमवव्यापिनो	-शरीरत्वाद्व्योमवद्व्यापिनो
११२	१२	बुध्यादीना-	बुद्धयादीना-
११४	१४	ब्रह्म	ब्रह्मद्वारा
११९	५	सर्वता	सर्वदा
११९	८	सवरथा·	सर्वथा
१२२	२०	प्रतिमानतः	प्रतिभानतः
१३०	१९	प्रवृत्त	प्रवृक
१३९	१२	यथा यत्नः	यथायत्नः
१३९	१६	परिणित	परिणत
१५९	२४	वेदसिद्ध	वेदविरुद्ध
१६७	३	ब्रह्म	ब्रह्म है
१६८	१२	विज्ञयः	विज्ञेयः
१६८	१९	बुध्या	बुद्धया
१७१	९	आत्मा	आत्मानं
१७७	अन्तिम	संभवति	स भवति
१७९	१४	निष्क्रिय,	निष्क्रय, नित्य,
१८०	११	नपि	नापि
१८२	८	ज्ञया·········तथा	ज्ञेया·······यथा
१८२	१५	कहता	करता
१८८	२१	प्रत्यग्दर्शि	प्रत्यग्दृशि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२	राहु क	राहुकी
१६२	७	उपयुक्त	उपर्युक्त
१६६	४	बुद्ध	बुद्धे
२०३	२४	आत्मा करके	अलग करके
२०८	१०	विपयसाक्षी	विपय साक्षी
२०६	२६	महावाक्यार्थ तत्त्व	महावाक्यार्थ तत्त्व
२१०	३	प्रतिपादस	प्रतिपादन
२१३	१६	कोई न	कोई घर न
२१६	२१	हैं जो	हैं कि जो
२१७	?	है । यहाँ	है उन्हें
२१७	२५	सद्धान्ती	सिद्धान्ती
२२६	४	कारणापेक्षया	कारकापेक्षया
२३७	३	करेने	करने
२३७	६	] है	है]
२४०	१३	रहित	विदित
२४२	१४	प्रमाणाभासजा तया	प्रमाणाभासजातया
२५२	१३	क्रियाहीन तो	क्रियाहीन
२५३	८	भो	भी
२५३	६	भवंत वेच्छतो	भवं तवेच्छतो
२५३	१३	करने	करनेवाले



* ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता

उपदेशसाहस्री

भाषानुवादसहित

[गद्यबन्ध प्रथम भाग]

शङ्करं शङ्कराचार्यं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ।
शङ्करं सच्चिदानन्दं स्वात्मानं संस्मराम्यहम् ॥

शिष्यप्रतिबोधविधिप्रकरण ॥ १ ॥

अथ मोक्षसाधनोपदेशविधिं व्याख्यास्यामो मुमुक्षूणां श्रद्दधानानामर्थिनामर्थाय ॥ १ ॥

इसके अनन्तर[1] हम वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य जानने के इच्छुक, श्रद्धालु

---

१ यहाँ मूल में 'अथ' शब्द है, जो मंगलाचरण के लिये हो सकता है, क्योंकि 'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' इस स्मृति के अनुसार आदिशब्द होने के कारण 'ॐकार' और 'अथ' ये दोनों शब्द माङ्गलिक माने गये हैं। इसके सिवा यह आनन्तर्यार्थक भी हो सकता है। अर्थात् इसके द्वारा आचार्य यह बताते हैं कि शास्त्रसम्बन्धी अनेकों विस्तृत ग्रन्थ लिखने के अनन्तर अब हम मोक्षसाधन के उपदेश की विधि बताते हैं, जिसके द्वारा सुगमता से परमार्थतत्त्व का बोध हो सकता है। इस प्रकार जब 'अथ' को आनन्तर्यार्थक माना जायगा तो यह उच्चारणमात्र से मंगलार्थक हो जायगा।

एवं मुमुक्षु[1] पुरुषों के लिये मुक्ति के साधनभूत तत्त्वज्ञान के उपदेश की विधि का निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात्सर्वस्माद्विरक्ताय त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्याय शमदमदयादियुक्ताय शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसंपन्नाय शुचये ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय शिष्याय जातिकर्मवृत्तविद्याऽभिजनैः परीक्षिताय ब्रूयात् पुनःपुनः यावद्ग्रहणं दृढीभवति ॥ २ ॥

आचार्य को चाहिये कि सम्पूर्ण अनित्य साध्य और साधनों से[2] विरक्त, पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करनेवाले, परमहंस संन्यासाश्रम में स्थित, शम दम एवं दयादि से युक्त[3], शिष्य के शास्त्रप्रसिद्ध गुणों से सम्पन्न, शुचि[4] ब्राह्मण[5] तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु की शरण में प्राप्त हुए शिष्य[6] को, उसकी जाति कर्म स्वभाव विद्या और कुल के द्वारा परीक्षा करके, इस मोक्ष के

---

१ ये तीन विशेषण देकर आचार्य ने शिष्य की साधनसम्पत्ति प्रदर्शित की है।

२ कृषि आदि दृष्ट एवं यागादि अदृष्ट साधनों से तथा ऐहिक और आमुष्मिक भोगरूप साध्य से।

३ 'परमहंस संन्यासाश्रम में स्थित' ऐसा कहकर फिर शम-दमादि गुणों से युक्त इसलिये कहा है कि केवल संन्यासग्रहण से ही कोई इसका अधिकारी नहीं हो जाता, बल्कि उसमें जिज्ञासु की साधनसम्पत्ति भी होनी चाहिये।

४ बाह्य और आन्तरिक शौच से सम्पन्न।

५ पहले 'संन्यासाश्रम में स्थित' कहा है। यहाँ ब्राह्मण कहकर यह दिखाते हैं कि उस आश्रम का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। जनकादि क्षत्रियगण ज्ञानवान् होकर भी गृहस्थाश्रम में ही रहे थे। अथवा 'ब्राह्मण' पद से 'ब्रह्मजिज्ञासु' भी अभिप्रेत हो सकता है।

६ जो विद्या ग्रहण करने के लिये गुरु के चरण पकड़कर अभिवादन करते हुए 'भगवन्! मुझे ज्ञान दान दीजिये' इस प्रकार कहकर ज्ञान की भिक्षा माँगे।

साधनभूत ज्ञान का तब तक बारम्बार[1] उपदेश करे जब तक कि उसे इसका सुदृढ ग्रहण हो जाय ॥ २ ॥

श्रुतिश्च–"परीक्ष्य लोकान्‌ ... तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्‌ ।" (मु० उ० १।२।१२,१३) इति । दृढगृहीता हि विद्या आत्मनः श्रेयसे सन्तत्यै च भवति । विद्यासन्ततिश्च प्राण्यनुग्रहाय भवति नौरिव नदीं तितीर्षोः । शास्त्रं च–"यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्‌ एतदेव ततो भूयः" (छा० उ० ३।११।६) इति । अन्यथा च ज्ञानप्राप्त्यभावात्‌–"आचार्यवान्‌ पुरुषो वेद," (छा० उ० ६।१४।२) "आचार्याद्धैव विद्या विदिता," (छा०उ०४।९।३) "आचार्यः प्लावयिता," "सम्यग्ज्ञानं प्लव इहोच्यते" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्‌" (गी० ४।३४) इत्यादिस्मृतेश्च ॥ ३ ॥

इस विषय में 'परीक्ष्य लोकान्‌ .... तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्‌'[2] यह श्रुति भी है; क्यों कि दृढतापूर्वक ग्रहण की हुई विद्या ही आत्मा के कल्याण और शिष्यपरम्परा के द्वारा विद्या के अविच्छेद की हेतु होती है । और जिस प्रकार नदी को पार करने की इच्छावाले के लिये नौका उपयोगी है उसी प्रकार विद्या

१ ज्ञानोपदेश का फल दृष्ट है, इसलिये उसकी प्राप्तिपर्यन्त बार बार उपदेश करने को कहा है, यदि इसका अदृष्ट फल ही माना जाता तो एक बार ही उपदेश करने की विधि होती ।

२ यह श्रुति इस प्रकार है—

परीक्ष्य लोकान्‌ कर्मचितान्‌ ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्‌ ॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्‌ प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्‌ ॥
[मु० उ० १।२।१२,१३]

अर्थ—कर्म से प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा करके यह देखकर कि किये

का अविच्छेद प्राणियों के कल्याण का हेतु है। इस विषय में यह शास्त्रवाक्य (श्रुति) भी है—"यदि इस [आत्मज्ञानी] को यह समुद्र से घिरी हुई और धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी दे तो भी उससे यह विद्या ही बढ़कर है।" अन्यथा [यदि विद्यासन्तति का उच्छेद हो जायगा तो] ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकेगी; जैसा कि "आचार्यवान् पुरुष को ज्ञान होता है", "विद्या आचार्य से ही जानी जाती है" "आचार्य ही पार करनेवाला है" "यहाँ सम्यग्ज्ञान ही नौका कहा गया है" इत्यादि श्रुतियों और "तुम्हें ज्ञानी लोग ज्ञान का उपदेश करेंगे" इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है[1] ॥ ३ ॥

शिष्यस्य ज्ञानाग्रहणं च लिङ्गैर्बुद्ध्वा अग्रहणे हेतून् अधर्मलौकिकप्रमादनित्यानित्यविवेकविषयासंजातदृढपूर्वश्रुतत्वलोकचिन्तावेक्षणजात्याद्यभिमानादीन् तत्प्रतिपक्षैः श्रुतिस्मृतिविहितैः अपनयेत् अक्रोधादिभिरहिंसादिभिश्च यमैः ज्ञानाविरुद्धैश्च नियमैः ॥ ४ ॥

फिर [मुखादि की चेष्टा और वाग्व्यापारादि] लिङ्गों से शिष्य को ज्ञान की अप्राप्ति जानकर उसकी अप्राप्ति के जो सञ्चित एवं ऐहिक पाप, प्रमाद,[2] नित्यवस्तु आत्मा और अनित्य वस्तु अनात्मा के विवेक के विषय में पहले पूर्णतया श्रवण न करना, लोकचिन्ता में दृष्टि रखना[3] तथा जाति आदि का अभिमान आदि

जानेवाले कर्मों के द्वारा अकृत मोक्षपद प्राप्त नहीं हो सकता, ब्राह्मण विरक्त हो जाय, और उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये वह समित्पाणि हो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय। इस प्रकार अपने समीप आये हुए उस शान्तचित्त शमादिसम्पन्न शिष्य को वह ज्ञानी गुरु उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिससे उसे उस अविनाशी सत्यस्वरूप पुरुष का ज्ञान हो जाय।

१ इन सब वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि परमार्थतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण केवल अपनी बुद्धि से ही नहीं जाना जा सकता; उसे गुरु के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिये।

२ यथेच्छभक्षण, यथेच्छभाषण एवं यथेच्छाचार आदि।

३ लोगों के व्यवहार में शुभाशुभ का विचार करते रहना।

हेतु हैं उनको उनके प्रतिपक्षी श्रुतिस्मृतिविहित अक्रोधादि[1] और अहिंसादि[2] यमों तथा ज्ञाननिष्ठा के अविरोधी नियमों[3] द्वारा निवृत्त करे ॥ ४ ॥

अमानित्वादिगुणं च ज्ञानोपायं सम्यक् ग्राहयेत् ॥ ५ ॥

तथा ज्ञान के उपायभूत अमानित्व आदि गुणों को अच्छी तरह से ग्रहण करावे ॥ ५ ॥

आचार्यस्तूहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसंपन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तः त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी पूर्वमुपदिशेत्--"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्," (छा० उ० ६।२।१) "यत्र नान्यत्पश्यति," (छा० उ० ७।२४।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्," (छा० उ० ७।२५।२) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्," (ऐ० उ० १।१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म," (छा० उ० ३।१४।१) इत्याद्याः आत्मैक्यप्रतिपादनपराः श्रुतीः ॥ ६ ॥

---

१ अक्रोधादि में 'आदि' पद से अकाम अमोहादि समझने चाहिये।

२ 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पा० सू० २।३०) के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। अक्रोधादि के साथ इनका उपायोपेयरूप सम्बन्ध है। अक्रोधादि उपाय हैं और अहिंसादि उपेय हैं।

३ 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (पा० सू० २।३२) इस सूत्र के अनुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। ज्ञाननिष्ठाके अविरोधी कहने का यह तात्पर्य है कि इनमें तीर्थयात्रा एवं चान्द्रायणादि कर्मकाण्डप्रधान नियम ज्ञाननिष्ठा के विरोधी हैं, क्योंकि अधिक आयाससाध्य होने के कारण वे विक्षेपके हेतु हैं।

[अब आचार्य के लक्षण बतलाते हुए उपदेश का क्रम दिखलाते हैं—] ऊहापोह[1], ग्रहण[2], धारण[3], शम, दम, दया एवं अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, ऐहिक एवं आमुष्मिक भोगों से विरक्त सब प्रकार के [स्त्रीधन एवं यज्ञोपवीतादि] कर्मसाधनों को त्यागनेवाले, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, लोकमर्यादा का अतिक्रमण न करनेवाले तथा दम्भ, दर्प, कुहक (दूसरे को धोखा देना), कुटिलता, माया (दूसरे को मोह में डाल देना), मात्सर्य (गुण में दोष दृष्टि), मिथ्या भाषण, अहंकार और ममता आदि दोषों से रहित, केवल परोपकाररूप प्रयोजनवाले एवं अपनी विद्या का उपयोग करने की इच्छावाले आचार्य को सबसे पहले आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियों का उपदेश करना चाहिये—"हे सोम्य ! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था," "जहाँ किसी अन्य को नहीं देखता," "यह सब आत्मा ही है," "पहले यह एक आत्मा ही था," "निश्चय यह सब ब्रह्म ही है" इत्यादि ॥ ६ ॥

उपदिश्य च ग्राहयेत् ब्रह्मणो लक्षणम्—"य आत्माऽपहतपाप्मा," (छा. उ. ८।७।१) "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म," (छा. ३।४।१) "योऽशनायापिपासे," (बृ. उ. ३।५।१) "नेति नेति," (बृ. उ. ३।३।६) "अस्थूलमनणु," (बृ. उ. ३।८।८) "स एष नेति," (बृ. उ. ३।९।२६) "अदृष्टं द्रष्टृ," (बृ. उ. ३।८।११) "विज्ञानमानन्दम्," (बृ. उ. ३।९।२८) "सत्यं ज्ञानमनन्तम्," (तै. उ. २।१।१) "अदृ-

---

१ शिष्य के बिना कहे ही उसका भाव जान लेना अथवा उपदेश के समय शिष्य की समझ में आनेयोग्य नवीन युक्तियों की कल्पना करने की शक्ति 'ऊहा' है तथा शिष्य के मिथ्या ग्रहण को निवृत्त करने की अथवा स्वसिद्धान्त के विरोधी विचारों का निराकरण करने की सामर्थ्य 'अपोह' है ।

२ शिष्य के किये हुए प्रश्न और आक्षेपों को तुरन्त समझ लेने की शक्ति 'ग्रहण' है ।

३ शिष्य की शंका निवृत्त करने के लिये उनके सारासार का विचार करके निराकरण करते समय उन्हें स्मरण रखना 'धारण' है ।

इयेऽनात्म्ये," (तै. उ. २।७।१) "स वा एष महानज आत्मा," (बृ. उ. ४।४।२२) "अप्राणो ह्यमनाः," (मु. उ. २।१।२) "सबाह्या-भ्यन्तरो ह्यजः," (मु. उ. २।१।२) "विज्ञानघन एव," (स्कन्द. १) "अनन्तरमबाह्यम्," (बृ. उ. २।५।१९) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्," (के. उ. १।४) "आकाशो वै नाम," (छा. उ. ८।१४।१) इत्यादिश्रुतिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उपदेश कर फिर "जो आत्मा पापरहित है," "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है," "जो क्षुधा और पिपासा से अतीत है," "न कार्य है न कारण है," "न स्थूल है न सूक्ष्म है," "वह यह आत्मा ऐसा नहीं है," "वह अदृष्ट किन्तु देखनेवाला है," "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है," "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है," "अदृश्य और अशरीर में," "यह यह आत्मा निश्चय ही महान् और अजन्मा है," "यह अप्राण और अमना है," "यह बाहर-भीतर व्याप्त और अजन्मा है," "यह विज्ञानघन ही है," "यह न भीतर है न बाहर," "यह विदित और अविदित से भी अन्य है," "आकाश ही नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का लक्षण ग्रहण करावे ॥ ७ ॥

स्मृतिभिश्च—"न जायते म्रियते वा," (गी. २।२०) "नादत्ते कस्यचित्पापम्," (गी. ५।१५) "यथाऽऽकाशस्थितो नित्यम्," (गी. ९।६) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि," (गी. १३।२) "न सत्त-न्नासदुच्यते," (गी. १३।१२) "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्," (गी. १३।३१) "समं सर्वेषु भूतेषु" (गी. १३।२७) "उत्तमः पुरुषः" (गी. १५।१७) इत्यादिभिः श्रुत्युक्तलक्षणाविरुद्धाभिः परमात्मासंसा-रित्वप्रतिपादनपराभिः तस्य सर्वेणानन्यत्वप्रतिपादनपराभिश्च ॥८॥

इसी प्रकार जो श्रुतिप्रतिपादित लक्षणों से अविरुद्ध, परमात्मा का असंसारित्व प्रतिपादन करने में तत्पर तथा उसका सबके साथ अभेद प्रतिपादन करनेवाली हैं उन "यह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है," "यह

किसी के पाप को ग्रहण नहीं करता," "जिस प्रकार सर्वदा आकाश में स्थित वायु [सर्वगत है]," "तू क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान," "वह न सत् कहा जाता है और न असत्," "अनादि और निर्गुण होने के कारण," "समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित," "उत्तम पुरुष अन्य है" इत्यादि स्मृतियों से भी [ब्रह्म का लक्षण ग्रहण करावे] ॥ ८ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिभिः गृहीतपरमात्मलक्षणं शिष्यं संसारसागरादुत्तितीर्षुं पृच्छेत् कस्त्वमसि सोम्येति ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रुति और स्मृतियों से परमात्मा के लक्षण को समझ लेनेवाले तथा संसार-सागर से पार होने के इच्छुक शिष्य से गुरु यह प्रश्न करे—'हे सोम्य ! तू कौन है ?' ॥ ९ ॥

स यदि ब्रूयात्—ब्राह्मणपुत्रः अदोन्वयः ब्रह्मचार्यासं गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राट् संसारसागरात् जन्ममृत्युमहाग्राहात् उत्तितीर्षुरिति ॥ १० ॥

[इस पर] यदि वह कहे कि मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न ब्रह्मचारी अथवा गृहस्थ ब्राह्मण-पुत्र था, और अब जन्म-मृत्युरूप महान् ग्राहों से पूर्ण संसार-सागर को पार करने की इच्छा से परमहंस परिव्राजक हो गया हूँ—॥ १० ॥

आचार्यो ब्रूयात् इहैव तव सोम्य मृतस्य शरीरं वयोभिरद्यते मृद्भावं वापद्यते तत्र कथं संसारादुद्धर्तुमिच्छसीति । न हि नद्याः अवरे कूले भस्मीभूते नद्याः पारं तरिष्यसीति ॥ ११ ॥

तो आचार्य को कहना चाहिये—हे सोम्य ! मर जानेपर तेरे शरीर को पक्षिगण यहीं भक्षण कर जायँगे अथवा यह मृत्तिकारूप हो जायगा । ऐसी अवस्था में तू संसार को पार करना कैसे चाहता है ? क्योंकि नदी के इसी तीर पर भस्मीभूत हो जाने पर तू उसके उस पार कभी नहीं जा सकता* ॥ ११ ॥

* इसी प्रकार तुम्हारा यह ब्राह्मणपुत्ररूप शरीर, जो यहीं नष्ट हो जाता है, संसार-सागर को कैसे पार कर सकेगा ?

स यदि ब्रूयात् अन्योऽहं शरीरात्। शरीरं तु जायते म्रियते वयोभिरद्यते शस्त्राग्न्यादिभिश्च विनाश्यते व्याध्यादिभिश्च प्रयुज्यते। तस्मिन् अहं स्वकृतधर्माधर्मवशात् पक्षी नीडमिव प्रविष्टः पुनः पुनः शरीरविनाशे धर्माधर्मवशात् शरीरान्तरं यास्यामि पूर्वनीडविनाशे पक्षीव नीडान्तरम्, एवमेवाहमनादौ संसारे देवमनुष्यतिर्यङ्निरय-स्थानेषु स्वकर्मवशादुपात्तमुपात्तं शरीरं त्यजन् नवं नवं च अन्य-दुपाददानो जन्ममरणप्रबन्धचक्रं घटीयन्त्रवत् स्वकर्मणा भ्राम्य-माणः क्रमेणेदं शरीरमासाद्य संसारचक्रभ्रमणात् अस्मान्निर्विण्णो भगवन्तमुपसन्नोऽस्मि संसारचक्रभ्रमणप्रशमाय । तस्मान्नित्य एवाहं शरीरादन्यः। शरीराणि आगच्छन्त्यपगच्छन्ति च वासांसीव पुरुषस्येति ॥ १२ ॥

यदि वह कहे कि मैं तो शरीर से भिन्न हूँ। शरीर तो उत्पन्न होता, मरता, पक्षियों से खाया जाता, शस्त्र और अग्नि आदि से नाश किया जाता तथा रोगादि से युक्त होता है। उसमें, घोंसले में घुसे हुए पक्षी के समान, मैं अपने किये हुए धर्म और अधर्म के कारण प्रवेश किये हुए हूँ; तथा जिस प्रकार पहले घोंसले का नाश होनेपर पक्षी दूसरे घोंसले में चला जाता है उसी प्रकार प्रत्येक शरीर का नाश होनेपर मैं अपने पुण्यापुण्य के अधीन बारम्बार दूसरा शरीर धारण कर लूँगा। इसी प्रकार इस अनादि संसार में अपने कर्मवश देवता मनुष्य तिर्यक् एवं नारकीय योनियों में ग्रहण किये हुए शरीरों को छोड़ता तथा दूसरे नये-नये शरीर ग्रहण करता मैं अपने कर्म के द्वारा घटीयन्त्र के समान जन्म-मरणरूप चक्र में भ्रमित होता क्रमशः इस शरीर में आकर इस संसार-चक्र में भ्रमण करने से खिन्न हो अब इस जगच्चक्र के भ्रमण की शान्ति के लिये आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। अतः मैं इस शरीर से भिन्न नित्य ही हूँ, क्योंकि पुरुष के वस्त्रों के समान शरीर तो आते हैं और चले जाते हैं ॥ १२ ॥

आचार्यो ब्रूयात् साध्ववादीः, सम्यक्पश्यसि, कथं मृषाऽवादीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो वा इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राडिति ॥ १३ ॥

[तो यह सुनकर] आचार्य को कहना चाहिये—तुमने बहुत ठीक कहा, तुम्हारी दृष्टि ठीक है। फिर तुमने यह झूठी बात क्यों कही थी कि मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न ब्रह्मचारी अथवा गृहस्थ ब्राह्मण पुत्र था और अब परमहंस परिव्राजक हो गया हूँ ? ॥ १३ ॥

तं प्रति ब्रूयादाचार्यः स यदि ब्रूयात्—भगवन्, कथमहं मृषाऽवादिषमिति ॥ १४ ॥ यतस्त्वं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं जात्यन्वयवर्जितस्यात्मनः प्रत्यभ्यज्ञासीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वय इत्यादिना वाक्येनेति ॥ १५ ॥

यदि शिष्य कहे कि भगवन् मैंने झूठी बात किस प्रकार कही थी ? तो आचार्य को उसके प्रति इस प्रकार कहना चाहिये—'क्योंकि तुमने 'मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पुत्र था' इत्यादि वाक्य से भिन्न (अनात्मभूत) जाति कुल और संस्कारवाले शरीर की जाति और कुल से रहित आत्मा के स्थान में प्रत्यभिज्ञा की थी [इसलिये तुम्हारा कथन मिथ्या था'] ॥ १४-१५ ॥

स यदि पृच्छेत् कथं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं, कथं वा अहं जात्यन्वयसंस्कारवर्जित इति ॥ १६ ॥

फिर यदि वह पूछे कि शरीर किस प्रकार अनात्मभूत जाति कुल और संस्कार से युक्त है और मैं किस प्रकार जाति कुल और संस्कार से रहित हूँ ? ॥ १६ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—शृणु सोम्य, यथेदं शरीरं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं त्वं च जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः। इत्युक्त्वा तं स्मारयेत्—स्मर्तुमर्हसि सोम्य, परमात्मानं सर्वात्मानं यथोक्तलक्षणं

आचितोऽसि "सदेव सोम्येदम्" (छा. उ. ६।२।१) इत्यादिभिः श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च। लक्षणं च तस्य श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च ॥१७॥

तो आचार्य को कहना चाहिये—'हे सोम्य ! जिस प्रकार यह शरीर तुझसे भिन्न अनात्मभूत जाति कुल और संस्कार से युक्त है तथा तू जाति कुल और संस्कार से शून्य है, सो सुन।' ऐसा कहकर उसे यह स्मरण दिलावे—हे सोम्य ! तुझे जो "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" आदि श्रुति और स्मृतियों से परमात्मा का श्रवण कराया था सो तुझे उन लक्षणों से युक्त सबके आत्मस्वरूप परमात्मा को तथा श्रुति और स्मृतियों के अनुसार उसके लक्षण को स्मरण रखना चाहिये ॥ १७ ॥

लब्धपरमात्मलक्षणस्मृतये ब्रूयात्—योऽसावाकाशनामा नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतः अशरीरः अस्थूलादिलक्षणः अपहतपाप्मादिलक्षणश्च सर्वैः संसारधर्मैः अनागन्धितः "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (छा. उ. ३।४।१), "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ. उ. ३।४।१), "अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता नित्यविज्ञानस्वरूपः" (बृ. उ. ३।७।२३) अनन्तरः अबाह्यः विज्ञानघन एव परिपूर्णः आकाशवत् अनन्तशक्तिः आत्मा सर्वस्य अशनायादिवर्जितः आविर्भावतिरोभाववर्जितश्च स्वात्मविलक्षणयोः नामरूपयोः जगद्बीजभूतयोः स्वात्मस्थयोः तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीययोः स्वयंवेद्ययोः सद्भावमात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वाद् व्याकर्ता अव्याकृतयोः ॥ १८ ॥

इस प्रकार जिसे परमात्मा के लक्षणों का स्मरण हो आया है उस शिष्य से यों कहे—यह जो आकाश नामक सबका आत्मा है वह नाम और रूप से भिन्न पदार्थ है तथा वह शरीररहित, अस्थूलादि लक्षणोंवाला तथा अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाला और सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से असंश्लिष्ट है, [जैसा कि कहा है—]

"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म ही है," "जो सर्वान्तर आत्मा है," तथा "जो स्वयं न दीखनेवाला किन्तु सबका साक्षी, स्वयं सुनायी न देनेवाला किन्तु सब कुछ सुननेवाला, स्वयं मनका अविषय किन्तु सब कुछ मनन करनेवाला, स्वयं अविज्ञात किन्तु सबका ज्ञाता है तथा जो नित्य-विज्ञानस्वरूप है" वह अन्तरशून्य, बाह्यशून्य, विज्ञानघन, आकाश के समान परिपूर्ण, अनन्तशक्ति, क्षुधादि से रहित, आविर्भाव-तिरोभावशून्य और अचिन्त्यशक्ति होने के कारण अपने में स्थित, अपने से विलक्षण, जगत् के बीजभूत, सदसत् से अनिर्वचनीय, स्वसंवेद्य, अव्याकृत नाम और रूपों को अपने सद्भावमात्र से[1] अभिव्यक्त करनेवाला है ॥ १८ ॥

ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे तस्मादेतस्मादात्मन आकाशनामाकृती संवृत्ते। तच्चाकाशाख्यं भूतमनेन प्रकारेण परमात्मनः संभूतं प्रसन्नादिव सलिलान्मलमिव फेनम्। न सलिलं न च सलिलादत्यन्तभिन्नं फेनम्। सलिलव्यतिरेकेणादर्शनात्, सलिलं तु स्वच्छं अन्यत्फेनान्मलरूपात्। एवं परमात्मा नामरूपाभ्यामन्यः फेनस्थानीयाभ्यां शुद्धः प्रसन्नः तद्विलक्षणः, ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे फेनस्थानीये आकाशनामाकृती संवृत्ते ॥ १९ ॥

वे नाम और रूप अव्याकृत अवस्था में रहते हुए जब व्यक्त किये जाने लगे तो इस आत्मा से 'आकाश' नाम और आकाश की आकृतिवाले हो गये। इस प्रकार स्वच्छ जल से उसके मलरूप फेन के समान वह आकाश नामक भूत परमात्मा से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार फेन न तो जल ही होता है और न जल से अत्यन्त भिन्न ही, क्योंकि जल से पृथक् वह देखा नहीं जाता और मलरूप फेन से स्वच्छ जल भिन्न भी है, उसी प्रकार फेनस्थानीय नाम और रूप से भिन्न परमात्मा शुद्ध और प्रसन्न हैं; उससे विलक्षण वे फेनस्थानीय

१ क्योंकि नाम-रूप में भी सत्ता तो आत्मा की ही है।

नाम और रूप अव्याकृत अवस्था में रहते हुए जब व्यक्त किये जाने लगे तो आकाश नामवाले और आकाश की आकृतिवाले हो गये ॥ १६ ॥

ततोऽपि स्थूलभावमापद्यमाने नामरूपे व्याक्रियमाणे वायुभावमापद्येते ततोऽप्यग्निभावं अग्नेरब्भावं ततः पृथ्वीभावं इत्येवंक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेन पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यन्तान्युत्पन्नानि। ततः पञ्चमहाभूतगुणविशिष्टा पृथ्वी। पृथ्व्याश्च पञ्चात्मिक्यो व्रीहियवाद्या ओषधयो जायन्ते। ताभ्यो भक्षिताभ्यो लोहितं च शुक्रं च स्त्रीपुंसशरीरसंबन्धि जायते। तदुभयमृतुकाले अविद्याप्रयुक्तकामखजनिर्मथनोद्धृतं मन्त्रसंस्कृतं गर्भाशये निषिच्यते। तत्स्वयोनिरसानुप्रवेशेन विवर्धमानं गर्भीभूतं नवमे दशमे वा मासि संजायते ॥२०॥

उससे भी स्थूल भाव को प्राप्त होते हुए वे नाम और रूप व्याकृत किये जानेपर वायुभाव को प्राप्त हो गये। उससे भी अग्निभाव को, अग्नि से जल भाव को और फिर पृथ्वी भाव को प्राप्त हो गये। इस प्रकार क्रमशः पूर्व-पूर्व के अनुप्रवेशद्वारा पृथिवीपर्यन्त पाँच भूत उत्पन्न हो गये। तदनन्तर पाँचों भूतों के गुणों से युक्त पृथिवी उत्पन्न हुई। पृथिवी से पञ्चीकृत भूतोंद्वारा उत्पन्न व्रीहि-यवादि ओषधियाँ होती हैं, तथा भक्षण की हुई उन ओषधियों से स्त्री और पुरुष के शरीरों से सम्बन्धित रज और वीर्य उत्पन्न होते हैं। ऋतुकाल में अविद्या-प्रयुक्त कामरूप मन्थन-दण्ड के मन्थन से आविर्भूत हुए वे रज और वीर्य मन्त्रोंद्वारा[१] संस्कारयुक्त होकर गर्भाशय में सींचे जाते हैं और फिर अपनी-अपनी योनि के रसानुप्रवेश से बढ़ते हुए वे गर्भरूप में परिणत हुए रज और वीर्य नवम या दशम मास में जन्म ग्रहण करते हैं ॥ २० ॥

तज्जातं लब्धनामाकृतिकं जातकर्मादिभिः मन्त्रसंस्कृतं पुनः उपनयनसंस्कारयोगेन ब्रह्मचारिसंज्ञं भवति। तदेव शरीरं पत्नीयोग-

१ 'गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति' आदि गर्भाधान के मन्त्रों से।

संस्कारयोगेन गृहस्थसंज्ञं भवति । तदेव वनस्थसंस्कारेण तापस संज्ञं भवति । तदेव क्रियाविनिवृत्तिनिमित्तसंस्कारेण परिव्राट्संज्ञं भवति । इत्येवं त्वत्तो भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरम् ॥२१॥

वह उत्पन्न हुआ शरीर जातकर्मादि संस्कारों से नाम और रूप प्राप्त कर फिर मन्त्रों से संस्कृत होनेपर उपनयन संस्कार के द्वारा 'ब्रह्मचारी' संज्ञावाला होता है; वही शरीर पत्नीग्रहणरूप संस्कार के द्वारा 'गृहस्थ' संज्ञावाला होता है; वही वानप्रस्थ-संस्कार के द्वारा 'वानप्रस्थ' संज्ञावाला होता है और वह सर्वकर्मपरित्यागनिमित्तक संस्कार के द्वारा 'संन्यासी' संज्ञावाला हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न जाति कुल और संस्कारवाला यह शरीर तुझसे भिन्न है ॥ २१ ॥

मनश्चेन्द्रियाणि च नामरूपात्मकान्येव—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छा. उ. ६।५।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

इसके सिवा "हे सोम्य ! मन अन्नमय ही है" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मन और इन्द्रियाँ भी नाम-रूपात्मिका ही हैं ॥ २२ ॥

कथं चाहं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारवर्जित इत्येतच्छृणु । योऽसौ नामरूपयोर्व्याकर्ता नामरूपधर्मविलक्षणः स एव नामरूपे व्याकुर्वन् सृष्ट्वेदं शरीरं स्वयं संस्कारधर्मवर्जितो नामरूपे इह प्रविष्टः अन्यैर् दृष्टः स्वयं पश्यन् तथाऽश्रुतः शृण्वन् अमतो मन्वानो अविज्ञाता विजानन् "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" (श्वे. उ. ३।६) इति । अस्मिन्नर्थे श्रुतयः सहस्रशः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्," (तै. उ. २।६।१) "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्," "स एष इह प्रविष्टः" (बृ. उ. १।४।७) "एष त आत्मा" (बृ. उ. ३।७।३) "स एतमेव सीमानं विदार्य

तया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ. उ. ३।१२) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा," (क. उ. ३।१२) "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" (छा. उ. ६।३।२) इत्याद्याः ॥ २३ ॥

[और तुमने जो कहा कि] मैं अनात्मभूत जाति कुल एवं संस्कारों से रहित किस प्रकार हूँ, सो यह भी सुनो—यह जो नाम-रूप के धर्मों से विलक्षण नाम-रूप को व्यक्त करनेवाला है वही नाम-रूपको व्यक्त करते हुए इस शरीर को रचकर स्वयं संस्कार और धर्मों से रहित हुआ ही दूसरों से अदृष्ट किन्तु स्वयं देखते हुए, दूसरों से अश्रुत किन्तु स्वयं सुनते हुए, तथा मन का अविषय होकर भी मनन करते हुए और अविज्ञात होकर भी सब को जानते हुए इन नाम और रूपों में प्रविष्ट हो गया है; जैसा कि "बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण रूपों की रचना कर उनके देव-मनुष्यादि नाम रख उनके द्वारा बोलता (व्यवहार करता) हुआ स्थित रहता है" इस श्रुति से सिद्ध होता है। इसी अर्थ में "उसे रचकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गया," "आत्मा सबके भीतर प्रविष्ट होकर सब जीवों का शासन करनेवाला है," "वह आत्मा इस शरीर में प्रविष्ट है," "यह तेरा आत्मा है," "वह इस मूर्द्धसीमा को विदीर्ण कर इसके द्वारा प्रविष्ट हो गया," "वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपा हुआ है," "उस (सत्स्वरूप) देवता ने ईक्षण किया कि अहा ! मैं इन तीन (अप् तेज और अन्न) देवताओं को प्रकाशित करूँ" इत्यादि सहस्रों श्रुतियाँ विद्यमान हैं ॥ २३ ॥

स्मृतयोऽपि "आत्मैव देवताः सर्वाः", "नवद्वारे पुरे देही" (गी. ५।१३) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गी. १३।२) "समः सर्वेषु भूतेषु" (गी. १८।५४) "उपद्रष्टानुमन्ता च" (गी. १३।२२) "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी. १५।१७) "अशरीरं शरीरेषु" (क. उ. २।२२) इत्याद्याः। तस्मात् जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्त्वमिति सिद्धम् ॥२४॥

इनके सिवा "सब देवता आत्मा ही हैं," "नौ द्वारके पुरमें देही रहता है," "क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान," "सब भूतों में समान रूप से स्थित," "उपद्रष्टा और

अनुमन्ता," "उत्तम पुरुष तो अन्य ही है," "जो शरीरों में अशरीरी है" इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि तू जाति कुल और संस्कार से रहित है ॥ २४ ॥

स यदि ब्रूयात्—अन्य एवाहमज्ञः सुखी दुःखी बद्धः संसारी-अन्योऽसौ मद्विलक्षणः असंसारी देवः, तमहं बल्युपहारनमस्कारादिभिः वर्णाश्रमकर्मभिश्चाराध्य संसारसागरादुत्तितीर्षुरस्मि कथंमहं स एवेति ॥ २५ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—नैवं सोम्य, प्रतिपत्तुमर्हसि प्रतिषिद्धत्वाद्भेदप्रतिपत्तेः। कथं प्रतिषिद्धा भेदप्रतिपत्तिरित्यत आह—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ. उ. १।४।१०) "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" (बृ. उ. २।४।६) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ. उ. ४।४।१९) इत्येवमाद्याः ॥२६॥

एता एव श्रुतयो भेदप्रतिपत्तेः संसारगमनं दर्शयन्ति ॥२७॥

[इस पर] यदि वह कहे कि मैं अज्ञानी सुखी दुःखी बद्ध संसारी जीव तो अन्य ही हूँ। यह असंसारी देव तो मेरे से भिन्न ही है। मैं तो बलि उपहार एवं नमस्कारादि से तथा अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों से इसकी आराधना करके संसार-सागर से पार होना चाहता हूँ। मैं साक्षात् वही कैसे हो सकता हूँ? ॥ २५ ॥ तो आचार्य को कहना चाहिये—'हे सोम्य! तुझे ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि भेदज्ञान की तो निन्दा की गयी है।' भेद ज्ञान की किस प्रकार निन्दा की गयी है—सो बतलाते हैं—"यह परमात्मा अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता," "जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न देखता है ब्रह्म उसको त्याग देता है," "जो यहाँ (लोक में) नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं ॥ २६ ॥ तथा ये ही श्रुतियाँ भेदज्ञान से संसार की प्राप्ति दिखलाती हैं ॥ २७ ॥

अभेदप्रतिपत्तेश्च मोक्षं दर्शयन्ति सहस्रशः "स आत्मा तत्त्वमसि" (छा. उ. ६।८।१६) इति परमात्मभावं विधाय "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा. उ. ६।१४।२) इत्युक्त्वा "तस्य तावदेव चिरम्" (छा. उ. ६।१४।२) इति मोक्षं दर्शयन्त्यभेदविज्ञानादेव सत्याभिसंधस्यातस्करस्येव दाहाद्यभाववत् संसाराभावं दर्शयन्ति दृष्टान्तेन—भेददर्शनादसत्याभिसंधस्य संसारगमनं दर्शयन्ति तस्करस्येव दाहादिदृष्टान्तेन ॥ २८ ॥

अभेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति तो सहस्रों श्रुतियाँ दिखलाती हैं—"वह आत्मा है और वही तू है" इस प्रकार जीव के परमात्मभाव का विधान कर "आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान होता है" ऐसा कहकर "उसके लिये तभी तक विलम्ब है" इस प्रकार अभेद ज्ञान से ही श्रुतियाँ मोक्ष दिखलाती हैं; तथा अचोर पुरुष के दाहादि के अभाव के समान दृष्टान्त-द्वारा उस सत्यनिष्ठ पुरुष को संसार प्राप्ति का अभाव और चोर के दाहादि दृष्टान्त से भेददर्शी असत्यनिष्ठ पुरुष को संसार की प्राप्ति दिखलाती हैं[1] ॥ २८ ॥

---

१ यहाँ आचार्य ने निम्नलिखित श्रुति का तात्पर्य उद्धृत किया है—

"पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति । स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥ अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते" ॥ २ ॥

(छां० उ० ६।१६)

अर्थात् राजपुरुष किसी पुरुष को हाथ पकड़कर लाते हैं और कहते हैं कि इसने धन चुराया है, इसके लिये परशु तपाओ। उसने यदि चोरी की होती है तो वह अपने को झूठा सिद्ध करता है और उस तप्त परशु को छूने से जल जाता है तथा मार दिया जाता है। किन्तु यदि उसने चोरी नहीं की होती तो वह

"त इह व्याघ्रो वा" (छा. उ. ६।९।२) इत्यादिना च अभे दर्शनात् "स स्वराट् भवति" (छा. उ. ७।२५।२) इत्युक्त्वा तद्वि परीतेन भेददर्शनेन संसारगमनं दर्शयन्ति—"अथ येऽन्यथाऽ विदुरन्ये राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" (छा. उ. ७।२५।२) इ प्रतिशाखम् । तस्मात् मृषैवैवमवादीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयः संसा परमात्मविलक्षण इति ॥ २६ ॥

"वह यहाँ व्याघ्र अथवा [सिंह, भेड़िया, भालू, कीट, पतंग, डाँस मच्छर जो कुछ होता है सुषुप्ति से जगने पर वही हो जाता है]" इस श्रुति भी अभेद ही दिखलाया गया है, तथा "वह स्वराट् (स्वतन्त्र सम्राट्) हो जा है" ऐसा कहकर उसके विपरीत "जो इससे अन्य प्रकार से जानते हैं उन अधिपति दूसरे होते हैं तथा वे क्षयशील लोकों को प्राप्त होते हैं" इत्यादि श्रुति द्वारा प्रत्येक शाखा में भेद दर्शन के द्वारा संसार की प्राप्ति दिखलायी है । अ तू ने यह मिथ्या ही कहा है कि 'मैं परमात्मा से भिन्न अमुक गोत्र में उत्प हुआ संसारी ब्राह्मण पुत्र हूँ' ॥ २६ ॥

तस्मात् प्रतिपिद्धत्वाद्भेददर्शनस्य भेदविषयत्वाच्च कर्मोपाद नस्य कर्मसाधनत्वाच्च यज्ञोपवीतादेः कर्मसाधनोपादानस्य प मात्माऽभेदप्रतिपत्त्या प्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः । कर्मणां तत्सा धनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमात्माभेदप्रतिपत्तिविरुद्धत्वात् संसारिणो हि कर्माणि विधीयन्ते तत्साधनानि च यज्ञो पवीतादीनि; न परमात्मनोऽभेददर्शिनः । भेददर्शनमात्रेण ततोऽन्यत्वम् ॥ ३० ॥

अपने को सत्यवादी सिद्ध करता है, वह उस परशु से नहीं जलता और छ दिया जाता है । इसी प्रकार भेददर्शी असत्यनिष्ठ होने के कारण संसार ब में बँधता है और अभेददर्शी सत्यनिष्ठ होने के कारण उससे छूट जाता है ।

अतः भेद दृष्टि प्रतिषिद्ध होने से, तथा कर्मानुष्ठान भेद विषयक होने से और यज्ञोपवीतादि कर्मानुष्ठान के साधन होने से, परमात्मा के साथ अभेद ज्ञान हो जाने पर कर्म के साधन और कर्मानुष्ठान का भी प्रतिषेध किया गया समझना चाहिये, क्योंकि कर्म और उनके साधन यज्ञोपवीतादि परमात्मा से अभेद ज्ञान के विरोधी हैं। कर्म और उनके साधन यज्ञोपवीतादि का संसारी पुरुषों के ही लिये विधान किया गया है, परमात्मा के साथ अपना अभेद देखनेवाले के लिये नहीं किया गया। तथा संसारी जीव का तो परमात्मा से भेद है, वह तो भेद दृष्टि के ही कारण है, [वस्तुतः नहीं] ॥ ३० ॥

यदि कर्माणि कर्तव्यानि न निविवर्तयिषितानि कर्मसाधना-संबन्धिनः कर्मनिमित्तजात्याश्रमाद्यसंबन्धिनश्च परमात्मनश्च आत्मनैवाभेदप्रतिपत्तिं नावक्ष्यत् "स आत्मा तत्त्वमसि" (छा. उ. ६।८।१६) इत्येवमादिभिर्निश्चितरूपैर्वाक्यैः, भेदप्रतिपत्तिनिन्दां च नाभ्यधास्यत् "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" (बृ. उ. ४।४।२३) "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन" (बृ. उ. ४।३।२२) "अत्र स्तेनोऽस्तेनः" (बृ. उ. ४।३।२२) इत्यादिना ॥ ३१ ॥

यदि श्रुति को कर्तव्य कर्मों की निवृत्ति इष्ट न होती तो वह कर्म के साधनों से असम्बन्धित तथा कर्मनिमित्तक जाति एवं आश्रमादि से असम्बन्धित परमात्मा का "वह आत्मा है और वह तू है" इस प्रकार के निश्चित रूप वाक्यों के द्वारा आत्मा के साथ अभेद प्रतिपादन न करती और न "यह ब्राह्मण की नित्य महिमा है" "वह पुण्य से असंश्लिष्ट है और पाप से भी असंश्लिष्ट है" "यहाँ चोर अचोर हो जाता है" इत्यादि वाक्यों द्वारा भेद ज्ञान की निन्दा ही करती ॥ ३१ ॥

कर्मासंबन्धिस्वरूपत्वं कर्मनिमित्तवर्णाद्यसंबन्धरूपतां च नाभ्यधास्यत्। कर्माणि च कर्मसाधनानि च यज्ञोपवीतादीनि

यद्यपरितित्याजयिषितानि तस्मात् ससाधनं कर्म परित्यक्त मुमुक्षुणा परमात्माऽभेददर्शनविरोधात्, आत्मा च पर एवेति प्रति पत्तव्यो यथाश्रुत्युक्तलक्षणः ॥ ३२ ॥

इसके सिवा यदि उसे [यज्ञादि] कर्म और यज्ञोपवीतादि कर्म के साध का त्याग इष्ट ही न होता तो वह आत्मा की कर्मासम्बन्धि रूपता तथा कर्म नि मक वर्णादिसंसर्ग शून्यता का वर्णन न करती। अतः मुमुक्षु को साधन स कर्मों का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि इनका परमात्मा के अभेद ज्ञान साथ विरोध है और श्रुति के बतलाये हुए लक्षणों से युक्त आत्मा पर ब्र है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

स यदि ब्रूयात् भगवन्, दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्य वेदना-अशनायादिनिमित्तं च प्रत्यक्षं दुःखं मम। परश्चायमात् "अयमात्माऽपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽ पासः सर्वगन्धरसवर्जितः" (छा. उ. ८।१।५) इति श्रूयते सर्वश्रुति स्मृतिषु च। कथं तद्विलक्षणः अनेकसंसारधर्मसंयुक्तः परमात्मा मात्मत्वेन च मां संसारिणं परमात्मत्वेन अग्निमिव शीतत् प्रतिपद्येयम्। संसारी च सन् सर्वाभ्युदयनिःश्रेयससाधने अधिकृ अभ्युदयनिःश्रेयससाधनानि कर्माणि तत्साधनानि च यज्ञोप तादीनि कथं परित्यजेयमिति ॥ ३३ ॥

[इस पर] यदि वह कहे कि भगवन्! शरीर के दग्ध और छेदन जाने पर मुझे तो प्रत्यक्ष वेदना होती है तथा क्षुधादि जनित पीड़ा का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तथा "यह आत्मा पापशून्य, रजोरहित, मृत्यु शोकहीन, क्षुधाहीन, पिपासाहीन तथा सब प्रकार के गन्ध और रस से रहित इत्यादि प्रकार से समस्त श्रुति और स्मृतियों में यह आत्मा ही परमात्मा गया है। ऐसी अवस्था में इन लक्षणों से रहित तथा अनेक सांसारिक

ा युक्त हुआ मैं अग्नि को शीतत्वविशिष्ट समझने के समान परमात्मा को आत्म-स्वरूप से और संसारी अपने आप को परमात्मरूप से किस प्रकार समझूँ ? तथा संसारी होने के कारण सब प्रकार के अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनों में अधिकार रखता हुआ भी उन अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनभूत कर्म एवं उनके साधन यज्ञोपवीतादि को भी कैसे त्याग दूँ ? ॥ ३३ ॥

तं प्रति ब्रूयात्—यदवोचो दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदनोपलभ्यते ममेति तदसत्। कस्मात् ? दह्यमाने छिद्यमान इव वृक्षे उपलब्धुरुपलभ्यमाने कर्मणि शरीरे दाहच्छेदवेदनाया उपलभ्यमानत्वात् दाहादिसमानाश्रयैव वेदना। यत्र हि दाहः छेदो वा क्रियते तत्रैव व्यपदिशति दाहादिवेदनां लोकः; न वेदनां दाहाद्युपलब्धरीति। कथं ? क्व ते वेदनेति पृष्टः शिरसि मे वेदना उरसि उदरे इति वा यत्र दाहादिस्तत्रैव व्यपदिशति; न तूपलब्धरीति। यद्युपलब्धरि वेदना स्यात् वेदनानिमित्तं वा दाहच्छेदादि वेदनाश्रयत्वेनो (न व्य) पदिशेद्दाहाद्याश्रयवत् ॥३४॥

तो उसके प्रति गुरु को यह कहना चाहिये—तूने जो कहा कि 'शरीर के दग्ध और छेदन किये जाने पर मुझे वेदना की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है' सो ठीक नहीं। क्यों ठीक नहीं ? क्योंकि दग्ध और छेदन किये जाते हुए वृक्ष के समान उपलब्धा को उपलब्ध होने वाले [उसकी उपलब्धि के] कर्म रूप शरीर में ही दाह और छेदन की वेदना उपलब्ध होने के कारण वह वेदना उन दाहादि के समान-आश्रय वाली ही है; क्योंकि जहाँ दाह या छेदन किया जाता है वहीं पर लोक उस दाहादि की वेदना का व्यपदेश (उल्लेख) किया करता है, दाहादि की उपलब्धि करने वाले में उसका व्यपदेश नहीं करता। किस प्रकार ? [सो सुनो—] जब किसी से यह पूछा जाता है कि तेरे कहाँ वेदना है तो 'मेरे शिर में वेदना है, अथवा हृदय में या पेट में वेदना है' इस प्रकार जहाँ दाहादि होता है वहीं उसकी वेदना भी बतलाता है, उसको उप-

लब्ध करने वाले में नहीं बतलाता। यदि वह वेदना अथवा उसका निमित्त दाहच्छेदादि उपलब्धा में होता तो दाहादि के आश्रय के समान उसकी वेदना के आश्रय रूप से भी उसी का उल्लेख करता ॥ ३४ ॥

स्वयं च नोपलभ्येत चक्षुर्गतरूपवत्। तस्माद् दाहच्छेदादिः समानाश्रयत्वेन उपलभ्यमानत्वाद्दाहादिवत् कर्मभूतैव वेदना। भावरूपत्वाच्च साश्रया तण्डुलपाकवत्। वेदनासमानाश्रय एव तत्संस्कारः। स्मृतिसमानकाल एवोपलभ्यमानत्वात् वेदनाविषयः तन्निमित्तविषयश्च द्वेषोऽपि संस्कारसमानाश्रय एव। तथा चोक्तम्-'रूपसंस्कारतुल्याऽऽधी रागद्वेषौ भयं च यत्। गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा' ॥ ३५ ॥

[यही नहीं] नेत्रस्थित रूप के समान आत्मस्थित वेदना तो स्वयं उपलब्ध भी नहीं हो सकती। अतः दाह और छेदनादि की समानाश्रया रूप से उपलब्ध होने के कारण दाहादि के समान उसकी वेदना भी [उपलब्धा की] कर्मभूता ही है: और कार्यरूपा होने के कारण वह तण्डुलपाक के समान साश्रय (आश्रययुक्ता) है[1]। तथा उसके संस्कार भी वेदना के समान आश्रय वाले

---

१ रूपादि गुणसमूह द्रव्य के आश्रित रहते हैं। यदि रूपादि का ज्ञान करें तो घटादि द्रव्य के आश्रित ही उनका ज्ञान हो सकता है। नेत्र द्रव्य है और नेत्रगत रूप उसका गुण है। अतः नेत्रगत रूप का ज्ञान करने के लिये नेत्र का ज्ञान करना आवश्यक है। किन्तु नेत्र के द्वारा नेत्र का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही वस्तु में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों धर्म नहीं रह सकते। इस प्रकार यदि वेदना का आश्रय आत्मा होता तो आत्मा को उसकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिये थी। किन्तु उपलब्धि होती है; अतः उसका आश्रय उपलब्धा आत्मा न होकर वहीं है जहाँ कि उसकी उपलब्धि होती है। उसका साश्रय होना भी आवश्यक है, क्यों कि वह कार्यरूपा है, स्वतःसिद्धा नहीं है। जिस प्रकार तण्डुलपाक कार्य है, तो वह किसी आश्रय में ही हो सकता है

ही हैं, क्यों कि उनकी उपलब्धि वेदना के समान काल [जाग्रत् अथवा स्वप्न] में ही होती है, [सुषुप्ति में नहीं होती, क्योंकि उस समय वेदना का भी अभाव रहता]। अतः ये वेदना के साथ ही रहने वाले हैं। इसी प्रकार उस वेदना के निमित्त भूत दाहादि के प्रति जो द्वेष है वह भी संस्कारों के समान-आश्रय वाला ही है[१]। ऐसा ही कहा भी है—'[नील-पीतादि] रूप और उनके संस्कार तथा तदनुकूल जो बुद्धि एवं राग, द्वेष और भय हैं वे बुद्धि के ही आश्रित देखे जाते हैं। अतः उनका ज्ञाता [आत्मा] तो सर्वदा शुद्ध और अभयरूप है' ॥ ३५ ॥

किमाश्रयाः पुना रूपादिसंस्कारादय इति। उच्यते। यत्र कामादयः। क्व पुनस्ते कामादयः? "कामः संकल्पो विचिकित्सा" (बृ. उ. १।५।३) इत्यादिश्रुतेः बुद्धावेव। तत्रैव रूपादिसंस्कारादयोऽपि "कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदये" (बृ. उ. ३।९।२०) इति श्रुतेः—"कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (क. उ. १।३।१८) "तीर्णो हि यदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य" (बृ. उ. ४।३।२२) "असङ्गो ह्ययम्" (बृ. उ. ४।३।१५) "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः" (बृ. ४।३।२१) इत्यादिश्रुतिभ्यः, "अविकार्योऽयमुच्यते" (गी. २।२५) "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्" (गी. १३।३१) इत्यादि। इच्छाद्वेषादि च क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्मो नात्मन इति स्मृतिभ्यश्च कर्मस्थैवाशुद्धिर्नात्मस्था इति ॥ ३६ ॥

अच्छा तो, रूपादि के संस्कारादि का आश्रय कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर

निराश्रय नहीं, उसी प्रकार वेदना भी किसी न किसी आश्रय में ही रहेगी। अतः जो हस्त पादादि उसके हेतुभूत दाहादि के आश्रय हैं वे ही उसके भी समझने चाहिये।

१ अर्थात् वह भी अनात्मभूता बुद्धि में ही रहता है, आत्मा में नहीं।

कहा जाता है---जहाँ कामादि रहते हैं [वहीं उनके संस्कारादि भी रहते हैं]। किन्तु वे कामादि कहाँ रहते हैं ? "काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय)" आदि श्रुति के[1] अनुसार वे बुद्धि में ही रहते हैं, तथा "रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं ? हृदय में" इस श्रुति के अनुसार रूपादि के संस्कार भी वहीं रहते हैं। "इसके हृदय में जो कामनाएं आश्रित हैं" "जब कि यह हृदय के समस्त शोकों से पार हो जाता है" "यह (आत्मा) असंग है" "इसका यह आत्मा कामादि दोषों से रहित है" इत्यादि श्रुतियों तथा "यह अविकार्य कहा जाता है" "अनादि और निर्गुण होने के कारण" इत्यादि स्मृतियों से भी यही सिद्ध होता है। तथा इच्छा और द्वेषादि तो विषयरूप क्षेत्र के ही धर्म हैं—आत्मा के नहीं; अतः स्मृतियों के अनुसार यह अशुद्धि कर्म (विषयभूत अनात्मा) में ही है--आत्मा में नहीं है ॥३६॥

अतो रूपादिसंस्काराद्यशुद्धिसंबन्धाभावात् न परस्मादात्मनो विलक्षणस्त्वमिति प्रत्यक्षादिविरोधाभावात् युक्तं पर एवात्माऽहमिति प्रतिपत्तुम्—"तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (बृ. उ. १।४।१०) "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ. उ. ४।४।२०) "अहमेवाऽधस्तात्" (छा. उ. ७।२५।१) "आत्मैवाऽधस्तात्" (छा. उ. ७।२५।२) "सर्वमात्मानं पश्येत्" (बृ. उ. ४।१२।४) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव" (बृ. उ. ४।५।१५) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ. उ. ४।५।७) "स एषोऽकलः" (प्र. उ. ६।५) "अनन्तरमबाह्यम्" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "ब्रह्मैवेदम्" (मु. उ. २।२।११) "एतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐ. उ. ३।१२) "प्रज्ञानस्य नामधेयानि" (ऐ. उ. ५।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २।१।१) "तस्माद्वा" (तै. उ. २।१।१

१ पूरी श्रुति इस प्रकार है—'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' अर्थात् काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं। (बृ० उ० १।५।३)

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै. उ. २।६) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी" (श्वे. उ. ६।११) "अशरीरं शरीरेषु" (क. उ. १।२।२२) "न जायते म्रियते" (क. उ. १।२।१८) "स्वप्नान्तं जागरितान्तम्" (क. उ. ३।४) "मम आत्मेति विद्यात्" (कौषी. ८) 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' (ई. उ. ६) "तदेजति तन्नैजति" (ई. उ. ५) "वेनस्तत्पश्यन्" "तदेवाग्निः" (श्वे. उ. ४।२) "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ. उ. १।४।१०) "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" (मै. उ. ६।८) "सदेव सोम्य" (छा. उ. ६।२।१) "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा. उ. ६।८।१६) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ३७॥

अतः रूपादि के संस्कारादि रूप अशुद्धि का अभाव होने के कारण तू परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार इसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध न होने के कारण भी तुझे ऐसा ही समझना चाहिये कि मैं पर आत्मा ही हूँ। "उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" "एक रूप से ही देखना चाहिये" "मैं ही नीचे हूँ" "आत्मा ही नीचे है" "सबको आत्मस्वरूप देखे" "जिस अवस्था में इसे सब कुछ आत्मा ही हो जाता है" "यह जो कुछ है आत्मा ही है" "वह यह आत्मा निष्कल है" "यह न अन्तर है न बाह्य है" "वह बाहर-भीतर विद्यमान एवं अजन्मा है" "यह ब्रह्म ही है" "इसीके द्वारा प्रविष्ट हुआ" "प्रज्ञान के ही नाम हैं" "ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्तरूप है" "उस इस आत्मा से (आकाश उत्पन्न हुआ)" "उसे रचकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गया" "समस्त भूतों में एक सर्वव्यापी देव छिपा हुआ है" "वह शरीरों में अशरीरी है" "वह न उत्पन्न होता है न मरता है" "जो स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थ को देखता है" "यह मेरा आत्मा है—ऐसा जाने" "जो समस्त भूतों को (अपने में देखता है)" "यह गति करता है और नहीं भी करता" "ज्ञानियों ने उसे देखा है" "वही अग्नि है" "मैं मनु हुआ और मैं ही सूर्य भी हुआ" "वह जीवों के भीतर प्रविष्ट हुआ जीवों का शासन करने वाला है" "हे सोम्य! पहले सत्

ही था" "यह सत्य है वह आत्मा है और वही तू है" इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

स्मृतिभ्यश्च--"एकः प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य" "आत्मैव देवताः" "नवद्वारे पुरे" (गी. ५।१३) "समं सर्वेषु भूतेषु" (गी. १३।२७) "विद्याविनयसंपन्ने" (गी. ५।१८) "अविभक्तं विभक्तेषु" "वासुदेवः सर्वम्" (गी. ७।१९) इत्यादिभ्यः एक एवात्मा परं ब्रह्म सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्त्वमिति सिद्धम् ॥३८॥

तथा "समस्त प्राणी एक बुद्धि स्थित आत्मा के ही शरीर हैं" "समस्त देवता आत्मा ही हैं" "नवद्वार के पुर में देही रहता है" "समस्त भूतों में समान रूप से विद्यमान" "विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण में" "भिन्न-भिन्न प्राणियों में अभिन्न रूप से स्थित" "सब वासुदेव हैं" इत्यादि स्मृतियों से भी तू सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से रहित परब्रह्मस्वरूप एक आत्मा ही है—यह सिद्ध होता है ॥ ३८ ॥

स यदि ब्रूयात्–यदि भगवन्, अनन्तरोऽबाह्यः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव सैन्धवघनवदात्मा सर्वमूर्तिभेदवर्जितः आकाशवदेकरसः तर्हि किमिदं दृश्यते श्रूयते वा साध्यं साधनं वा साधकश्चेति श्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धं वादिशतविप्रतिपत्तिविषय इति ॥ ३९ ॥

(इस पर) यदि वह (शिष्य) यों कहे कि "भगवन् ! यदि अन्तर-बाह्य से रहित, बाहर भीतर विद्यमान एवं अजन्मा तथा पूर्णतया प्रज्ञानघन है, सैन्धवघन (घनीभूत लवण) के समान सम्पूर्ण मूर्तभेदों से रहित आकाश के समान एक रस आत्मा है तो श्रुति स्मृति और लोक में प्रसिद्ध तथा सैकड़ों वादियों के विवाद का विषयभूत यह साध्य साधन और साधकरूप भेद कैसे देखा-सुना जाता है ?" ॥ ३९ ॥

आचार्यो ब्रूयात्—अविद्याकृतमेतद्यदिदं दृश्यते श्रूयते वा, परमार्थतस्त्वेक एवात्मा अविद्यादृष्टेः अनेकवत् आभासते, तिमिर-दृष्ट्या अनेकचन्द्रवत् "यत्र वा अन्यदिव स्यात्" "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" (बृ. उ. ४।५।१५) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (बृ. उ. ४।४।१९) "अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्य-च्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यमिति" (छा. उ. ७।२४।१) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा. उ. ६।१।४) "अन्योऽसावन्योऽहम्" इति भेददर्श-ननिन्दोपपत्तेरविद्याकृतं द्वैतम् "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छा. उ.६।२) "यत्र त्वस्य" (बृ. उ. ४।५।१५) "तत्र को मोहः कः शोकः" (ई. उ. ७) इत्याद्येकत्वविधिश्रुतिभ्यश्चेति ॥ ४० ॥

तब आचार्य को इस प्रकार कहना चाहिये—यह जो कुछ देखा या सुना जाता है अविद्याकृत है; परमार्थतः तो एक ही आत्मा है, जो अविद्यामयी दृष्टिवाले पुरुष को अनेक-सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार कि तिमिर रोग ग्रस्त दृष्टि से अनेक चन्द्र प्रतीत होते हैं। "जहाँ अन्य-सा होता है" "जहाँ द्वैत-सा होता है वहीं अन्य अन्य को देखता है" "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" "और जहाँ कुछ अन्य देखता है, अन्य सुनता है अथवा अन्य जानता है वह अल्प है और जो अल्प है वह मरणधर्मा है" "वाणी से आरम्भ होनेवाला विकार नाम मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ [जो ऐसा जानता है वह नहीं जानता]" इत्यादि भेद दृष्टि की निन्दा उपपन्न होने के कारण भी द्वैत अविद्याकृत ही है। तथा "एक ही अद्वितीय" "जहाँ इसे [सब कुछ आत्मा ही हो गया]" "वहाँ क्या मोह और क्या शोक" इत्यादि एकत्व का विधान करनेवाली श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

यद्येवं भगवन्, किमर्थं श्रुत्या साध्यसाधनादिभेद उच्यते उत्पत्तिः प्रलयश्चेति ॥ ४१ ॥

शिष्य—भगवन् ! यदि ऐसी ही बात है तो श्रुति साध्य-साधनादि भेद तथा उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन क्यों करती है ? ॥ ४१ ॥

अत्रोच्यते—अविद्यावत उपात्तशरीरादिभेदस्य इष्टानिष्टयोगिनमात्मानं मन्यमानस्य साधनैरेवेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविवेकमजानतः इष्टप्राप्तिं चानिष्टपरिहारं चेच्छतः शनैस्तद्विषयमज्ञानं निवर्तयितुं शास्त्रं न साध्यसाधनादिभेदं विधत्ते । अनिष्टरूपः संसारो हि स इति तद्भेददृष्टिमेवाविद्यां संसारमुन्मूलयति उत्पत्तिप्रलयाद्येकत्वोपपत्तिप्रदर्शनेन ॥ ४२ ॥

गुरु—इसका उत्तर दिया जाता है—जिसे शरीरादि भेद प्राप्त हुआ है और जो आत्मा को इष्ट एवं अनिष्ट से सम्बन्धित मानता है; किन्तु साधनों के द्वारा इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार का उपाय नहीं जानता उस इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति की इच्छा करनेवाले अज्ञानी पुरुष के इष्ट विषयक अज्ञान को धीरे-धीरे निवृत्त करने के लिये ही जो शास्त्र है, वह साध्य-साधनादि भेद का [परमार्थतः] विधान नहीं करता, क्योंकि वह तो अनिष्टरूप संसार ही है । अतः संसार के उत्पत्ति-प्रलयादि के द्वारा एकत्व की उपपत्ति दिखला कर वह उस भेद दृष्टि रूप अविद्या यानी संसार का ही उच्छेद करता है ॥ ४२ ॥

अविद्यायामुन्मूलितायां श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः "अनन्तरमबाह्यम्" (बृ. उ. २।५।१९) "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु. उ. २।१।२) "सैन्धवघनवत्" "प्रज्ञानघन एवैक आत्मा" "आकाशवत्परिपूर्णः" इत्यत्रैव एका प्रज्ञाप्रतिष्ठा परमार्थदर्शिनो भवति—न साध्यसाधनोत्पत्तिप्रलयादिभेदेन अशुद्धिगन्धोऽप्युपपद्यते ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रुति स्मृति और युक्ति से अविद्या का उच्छेद हो जाने पर उस परमार्थदर्शी की एकनिष्ठ बुद्धि "अन्तर्बाह्य शून्य है" "बाहर-भीतर विद्यमान एवं अजन्मा है" "सैन्धवघन के समान है" "आत्मा एक और प्रज्ञानघन ही है" "आत्मा आकाश के समान परिपूर्ण है" इस लक्ष्य पर ही स्थिर हो जाती है। फिर उसमें साध्य-साधन और उत्पत्ति-प्रलयादि भेद से अशुद्धि का गन्धमात्र भी होना सम्भव नहीं होता ॥ ४३ ॥

तच्चैतत् परमार्थदर्शनं प्रतिपत्तुमिच्छता वर्णाश्रमाद्यभिमानकृतपाङ्क्तरूप-पुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं कर्तव्यम्। सम्यक्प्रत्ययविरोधात्तदभिमानस्य भेददर्शनप्रतिषेधार्थोपपत्तिश्चोपपद्यते। न ह्येकस्मिन्नात्मन्यसंसारित्वबुद्धौ शास्त्रन्यायोत्पादितायां तद्विपरीता बुद्धिर्भवति। न ह्यग्नौ शीतत्वबुद्धिः शरीरे वा अजरामरणबुद्धिः। तस्मादविद्याकार्यत्वात् सर्वकर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्तव्यः ॥ ४४ ॥

उस इस परमार्थ दर्शन की प्राप्ति करने के इच्छुक पुरुष को वर्णाश्रमादि के अभिमान से होनेवाली पाङ्क्तरूप (पाँच प्रकार की) पुत्र वित्त एवं लोकसम्बन्धी एषणाओं से ऊपर उठना ही चाहिये[1]; क्योंकि इनका अभिमान सम्यक्-

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१७) में पाङ्क्तोपासना का इस प्रकार उल्लेख है—पहले एक मात्र आत्मा ही था। उसने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो, फिर उसने पुत्र की कामना की, तत्पश्चात् धन की इच्छा की और फिर कर्मानुष्ठान की कामना की। पुरुष जब तक इन विषयों को प्राप्त नहीं करता तब तक वह यही समझता है कि अभी मुझे कुछ प्राप्त करना है, अभी मैं पूर्ण नहीं हूँ।

'पाङ्क्त' शब्द का अर्थ पाँच का समूह है। अतः यजमान, पत्नी, पुत्र, मानुष-वित्त और दैववित्त—इन पाँच से निष्पन्न होने वाले यज्ञादि को 'पाङ्क्त' कहते हैं। इह लोक पुत्रद्वारा प्राप्त होता है, पितृलोक मानुष-वित्त से प्राप्त होता है और देवलोक दैव-वित्त से जय किया जाता है। पाङ्क्त रूप से उपासना

ज्ञान का विरोधी है। अतः भेद दर्शन का प्रतिषेध रूप जो अर्थ है उसकी भी उपपत्ति उचित ही है। एक ही आत्मा में शास्त्र और युक्ति के द्वारा असंसारित्व बुद्धि उत्पन्न कर दिये जाने पर फिर उसमें उससे विपरीत बुद्धि नहीं हो सकती। जैसे अग्नि में शीतत्व-बुद्धि अथवा शरीर में अजरामर-बुद्धि कभी नहीं हो सकती। अतः सम्पूर्ण कर्म और उनके साधन यज्ञोपवीतादि अविद्या के कार्य होने के कारण परमार्थनिष्ठ पुरुष को उनका त्याग कर देना चाहिये ॥४४॥

कूटस्थाद्वयात्मबोधप्रकरण ॥ २ ॥

सुखमासीनं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं कश्चिद् ब्रह्मचारी जन्ममरण-लक्षणात् संसारात् निर्विण्णो मुमुक्षुः विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ- भगवन्, कथमहं संसारान्मोक्षिष्ये शरीरेन्द्रियविषयवेदनावान्; जागरिते दुःखमनुभवामि तथा स्वप्नेऽनुभवामि च पुनः पुनः सुषुप्तिप्रतिपत्त्या विश्रम्य विश्रम्य, किमयमेव मम स्वभावः–किं वा अन्यस्वभावस्य सतो नैमित्तिकः ? इति। यदि स्वभावः-न मे मोक्षाशा, स्वभावस्यावर्जनीयत्वात्। अथ नैमित्तिकः-निमित्तपरिहारे स्यान्मोक्षोपपत्तिः ॥ ४५ ॥

करने के लिये श्रुति ने मन को आत्मा (जिसने कि आरम्भ में इच्छा की थी), वाणी को स्त्री, प्राण को पुत्र, चक्षु को मानुष-वित्त (गौ आदि) और श्रोत्र को दैव-वित्त (विज्ञान) बतलाया है।

एषणा तीन प्रकार की होती है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा। इनमें मानुष और दैव भेद से वित्त दो प्रकार का है तथा उनसे प्राप्त होने वाले लोक इहलोक, पितृलोक और देवलोक भेद से तीन प्रकार के हैं। मुमुक्षु को इन सबका त्याग करना चाहिये। ये सब यजमानादि साध्य यज्ञादि कर्म से प्राप्त होते हैं, इसलिये इन्हें 'पाङ्क्त रूप' कहा है।

[एक बार] सुखपूर्वक बैठे हुए एक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण[1] के समीप विधिवत्[2] आकर जन्म-मरणरूप संसार से विरक्त हुए किसी मोक्षकामी ब्रह्मचारी[3] ने पूछा—'भगवन् ! शरीर इन्द्रिय और विषयजनित वेदना से युक्त हुआ मैं किस प्रकार इस संसार से मुक्त होऊँगा । मैं सुषुप्ति की प्राप्ति से बीच-बीच में विश्राम लेता हुआ जाग्रत् में और स्वप्नावस्था में पुनः पुनः दुःख का अनुभव करता हूँ । क्या मेरा यही स्वभाव है अथवा मेरा कोई अन्य स्वभाव होता हुआ भी मुझे यह निमित्तवश प्राप्त हुआ है । यदि यह मेरा स्वभाव है तब तो मेरे छुटकारे की कोई आशा नहीं है, क्योंकि स्वभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती[4], और यदि केवल निमित्त वश प्राप्त हुआ है तो उस निमित्त की निवृत्ति होने पर इससे छुटकारा मिलना सम्भव है' ॥ ४५ ॥

तं गुरुरुवाच—शृणु वत्स, न तवायं स्वभावः । (किंतु) नैमित्तिकः ॥ ४६ ॥

तब उस शिष्य से गुरु ने कहा—वत्स ! सुन, यह तेरा स्वभाव नहीं है; अपितु तुझे निमित्त वश ही प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥

इति उक्तः शिष्य उवाच—किं निमित्तं, किं वा तस्य निवर्तकम्, को वा मम स्वभावः, यस्मिन्निमित्ते निवर्तिते नैमित्तिकाभावः-रोगनिमित्तनिवृत्ताविव रोगी स्वभावं प्रपद्येयेति ॥ ४७ ॥

---

१ 'ब्राह्मण' शब्द देने से यह तात्पर्य है कि आपत्काल को छोड़कर अन्य समय यथासम्भव ब्राह्मणेतर वर्ण से उपदेश न ले ।

२ जैसा कि शास्त्र बतलाता है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' । अर्थात् उस ब्रह्म तत्त्व को जानने के लिये उसे हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिये ।

३ ब्रह्म यानी प्रत्यक्तत्त्व में विचरने का जिसका स्वभाव है अर्थात् जो कि ब्रह्म विचार में तत्पर है ।

४ क्योंकि स्वभाव की निवृत्ति से तो वस्तु की ही निवृत्ति हो जाती है, जैसे उष्णता का अभाव होने से अग्नि का भी अभाव हो जाता है ।

ऐसा कहे जाने पर शिष्य बोला—वह निमित्त क्या है, उसकी निवृत्ति करनेवाला कौन है और मेरा स्वभाव क्या है ? तथा जिस निमित्त के निवृत्त होनेपर इस नैमित्तिक (निमित्तजनित दुःख) का अभाव हो जायगा और रोग की निवृत्ति होने पर जैसे रोगी स्वास्थ्य लाभ करता है उसी प्रकार मैं स्वभाव को प्राप्त हो जाऊँगा [वह निमित्त क्या है ?] ॥ ४७ ॥

गुरुरुवाच—अविद्या निमित्तं, विद्या तस्य निवर्तिका, अविद्यायां निवृत्तायां तन्निमित्ताभावात् मोक्ष्यसे जन्ममरणलक्षणात्, स्वप्नजाग्रद्दुःखं च नानुभविष्यसीति ॥ ४८ ॥

गुरु ने कहा—वह निमित्त अविद्या है और उसकी निवृत्ति करने वाली विद्या है। अविद्या के निवृत्त होने पर तन्निमित्तक संसार का अभाव हो जाने से तू जन्म मरण रूप संसार से मुक्त हो जायगा और फिर स्वप्न एवं जाग्रदवस्था जनित दुःखका अनुभव नहीं करेगा ॥ ४८ ॥

शिष्य उवाच—का सा अविद्या, किंविषया वा, विद्या च का यया स्वभावं प्रतिपद्येयेति ॥ ४९ ॥

शिष्य बोला—वह अविद्या क्या है और किसको विषय करने वाली है तथा जिसके द्वारा मैं अपने स्वभाव को प्राप्त करूँगा वह विद्या क्या है ? ॥ ४९ ॥

गुरुरुवाच— त्वं परमात्मानं सन्तं असंसारिणं संसार्यहमस्मीति विपरीतं प्रतिपद्यसे, अकर्तारं सन्तं कर्तेति, अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति, विद्यमानं च अविद्यमानमिति, इयमविद्या ॥ ५० ॥

गुरु ने कहा—तुम असंसारी परमात्मा होते हुए अपने को 'मैं संसारी हूँ' ऐसा उल्टा समझते हो तथा अकर्ता होते हुए कर्ता, अभोक्ता होते हुए भोक्ता और विद्यमान होते हुए अविद्यमान मानते हो—यही अविद्या है ॥ ५० ॥

शिष्य उवाच—यद्यप्यहं विद्यमानः; तथापि न परमात्मा, कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो मम स्वभावः, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः

अनुभूयमानत्वात् । न अविद्यानिमित्तः, अविद्यायाः स्वात्मविषयत्वानुपपत्तेः । अविद्या नाम अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यारोपणा—यथा प्रसिद्धं रजतं प्रसिद्धायां शुक्तिकायां, यथा प्रसिद्धं पुरुषं स्थाणावध्यारोपयति प्रसिद्धं वा स्थाणुं पुरुषे । नाऽप्रसिद्धं प्रसिद्धे प्रसिद्धं चाऽप्रसिद्धे । न चात्मन्यनात्मानमध्यारोपयति, आत्मनः अप्रसिद्धत्वात् । तथा आत्मानं अनात्मनि, आत्मनोऽप्रसिद्धत्वादेव ॥५१॥

शिष्य बोला—यद्यपि मैं विद्यमान हूँ तो भी परमात्मा तो नहीं हूँ । कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार मेरा स्वभाव है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से [1]ऐसा ही अनुभव होता है । यह अविद्या के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या अपने आत्मा को ही विषय नहीं कर सकती । अविद्या तो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्मों का आरोप करना ही है; जिस प्रकार प्रसिद्ध (प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध) रजत का प्रसिद्ध शुक्ति में तथा प्रसिद्ध पुरुष का प्रसिद्ध स्थाणु में आरोप किया जाता है । प्रसिद्ध वस्तु में अप्रसिद्ध का तथा अप्रसिद्ध में प्रसिद्ध का आरोप नहीं होता । [2]आत्मा लोक प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये उसमें कोई अनात्मा का आरोप

---

१ 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी प्रतीति प्रत्यक्ष ही है । इसके सिवा धर्म होने के कारण कर्तृत्वादि साश्रय ही होने चाहियें, जैसे कि रूपादि । उनका आश्रय पाषाणादि अचेतन पदार्थ नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें सुखदुःखादि योग नहीं देखा जाता । अतः वे चेतन के ही आश्रित होने चाहिये । इस प्रकार अनुमान से भी आत्मा का भोक्तृत्व सिद्ध होता है । तथा 'गुणान्वयो यः फलकर्मभोक्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता' 'स एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' इत्यादि आगम प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है ।

२ यदि आत्मा प्रसिद्ध है तो प्रकाशस्वरूप होने के कारण उसमें अनात्म-धर्मों की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि अप्रसिद्ध है तो उसका स्फुरण ही न होने के कारण उसमें अन्य धर्मों का आरोप कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार किसी तरह आत्मा में अध्यास होना सम्भव नहीं है—ऐसी शिष्य की शंका है ।

नहीं कर सकता और न अनात्मा में ही आत्मा का आरोप हो सकता है, क्योंकि आत्मा अप्रसिद्ध है[१] ॥ ५१ ॥

तं गुरुरुवाच—न, व्यभिचारात् । नहि वत्स, प्रसिद्धं प्रसिद्ध एवाध्यारोपयतीति नियन्तुं शक्यम् ; आत्मन्यध्यारोपण-दर्शनात् । गौरोऽहं कृष्णोऽहमिति देहधर्मस्य अहंप्रत्ययविषये आत्मनि, अहंप्रत्ययविषयस्य च आत्मनः देहे अयमस्मीति ॥५२॥

तब उससे गुरु ने कहा—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें व्यभिचार देखा जाता है। हे वत्स! ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि पुरुष प्रसिद्ध वस्तु का प्रसिद्ध वस्तु में ही अध्यारोप करता है, क्योंकि आत्मा में भी अध्यारोप होता देखा जाता है। 'मैं गौर हूँ, श्याम हूँ' इस प्रकार देह के धर्मों का अहं प्रत्यय के विषयभूत आत्मा में और 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अहं प्रत्यय के विषयभूत आत्मा का देह में अध्यास होता देखा जाता है ॥५२॥

शिष्य आह—प्रसिद्ध एव तर्ह्यात्मा अहंप्रत्ययविषयतया देहश्च अयमिति । तत्रैवं सति प्रसिद्धयोरेव देहात्मनोरितरेतराध्या-रोपणात् स्थाणुपुरुषयोः शुक्तिकारजतयोरिव । तत्र कं विशेष-माश्रित्य भगवतोक्तं प्रसिद्धयोरितरेतराध्यारोपणेति नियन्तुं न शक्यते इति ॥ ५३ ॥

शिष्य बोला—तब अहंप्रत्यय के विषयरूप से आत्मा तो प्रसिद्ध ही है और 'यह है' ऐसा अनुभव होने के कारण देह भी प्रसिद्ध ही है। ऐसा होने पर तो स्थाणु-पुरुष एवं शुक्ति-रजत के समान प्रसिद्ध देह और आत्मा का ही अन्योन्याध्यास[२] होता है। तब श्रीमान् ने किस विशेषता को लेकर ऐसा

१ अतः आत्मा का तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वभाव ही है।

२ एक-दूसरे का एक-दूसरे में अध्यास। अर्थात् आत्मा का देह में और देह का आत्मा में अध्यास होता है; इसीसे पुरुष देह के धर्म गौर-श्यामादि को आत्मा में और आत्मा के धर्म चेतनत्वादि को देह में मानता है।

कहा था कि प्रसिद्ध पदार्थों का ही एक-दूसरे में अध्यास होता है—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता ॥ ५३ ॥

गुरुराह—शृणु। सत्यं प्रसिद्धौ देहात्मानौ, नतु स्थाणुपुरुषाविव विविक्तप्रत्ययविषयतया सर्वलोकप्रसिद्धौ। कथं तर्हि? नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययविषयतया। नहि अयं देहः, अयमात्मा, इति विविक्ताभ्यां प्रत्ययाभ्यां देहात्मानौ गृह्णाति यतः कश्चित्। अतएव हि मोमुह्यते लोकः आत्मानात्मविषये—एवमात्मा नैवमात्मा इति। इमं विशेषमाश्रित्यावोचं नैवं नियन्तुं शक्यमिति ॥ ५४ ॥

गुरु बोले—सुनो, यह तो ठीक है कि देह और आत्मा भी प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु वे स्थाणु और पुरुष के समान सम्पूर्ण लोक में पृथक्-पृथक् प्रतीति के विषय-रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। तो फिर वे किस प्रकार प्रसिद्ध हैं?—वे तो सर्वदा ही व्यवधान शून्य अपृथक् प्रतीति के विषयरूप से जाने जाते हैं, क्योंकि कोई भी पुरुष 'यह देह है और यह आत्मा है' इस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीतियों के द्वारा देह और आत्मा को ग्रहण नहीं करता। इसीसे आत्मा और अनात्मा के विषय में 'आत्मा ऐसा है—ऐसा नहीं है' इस प्रकार लोगों को मोह हो रहा है। इसी विशेषता को लेकर मैंने कहा था कि ऐसा नियम नहीं किया जा सकता ॥ ५४ ॥

ननु अविद्याऽध्यारोपितं यत्र यत् तदसत् तत्र दृष्टं यथा रजतं शुक्तिकायां, स्थाणौ पुरुषः, रज्ज्वां सर्पः, आकाशे तलमलिनत्वमित्यादि, तथा—देहात्मनोरपि नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययतया इतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात् तदितरेतरयोः नित्यमेव असत्त्वे स्यात्। यथा शुक्तिकादिषु अविद्याध्यारोपितानां रजतादीनां नित्यमेव अत्यन्तासत्त्वं तद्विपरीतानां च विपरीतेषु, तद्वत्

देहात्मनोरविद्ययैव इतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात्, तत्रैवं सति देहात्मनोरसत्त्वं प्रसज्येत। तच्चानिष्टं वैनाशिकपक्षत्वात्। अथ तद्विपर्ययेण देहः आत्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितः, देहस्यात्मनि सति असत्त्वं प्रसज्येत। तच्चानिष्टं प्रत्यक्षादिविरोधात्। तस्माद्देहात्मानौ नाविद्यया इतरेतरस्मिन् अध्यारोपितौ। कथं तर्हि? वंशस्तम्भवन्नित्यसंयुक्तौ ॥ ५५ ॥

शिष्य—किन्तु जो वस्तु जहाँ अविद्यासे आरोपित होती है वह तो वहाँ असत् देखी गयी है; जैसे सीपी में चाँदी, स्थाणु में पुरुष, रस्सी में सर्प और आकाश में तलमालिन्यादि (नीलिमा एवं गन्धर्व नगरादि)। इसी प्रकार यदि देह और आत्मा का भी सर्वदा ही निरन्तर अभिन्न प्रतीति-विषयत्व रूप एक-दूसरे में अध्यारोप किया गया हो तो वह नित्य ही उन दोनों की पारस्परिक असत्ता का ही हेतु होगा। जिस प्रकार सीपी आदि में अविद्या से आरोपित चाँदी आदि की सर्वदा ही आत्यन्तिकी असत्ता है तथा इसके विपरीत सीपी आदि की तद्विपरीत चाँदी आदि में असत्ता है उसी प्रकार यदि देह और आत्मा का भी अविद्या से ही एक-दूसरे में अध्यास हुआ है तो ऐसा होने पर उन देह और आत्मा की असत्ता का ही प्रसंग उपस्थित होता है, किन्तु यह (आत्मा की असत्ता) वैनाशिक (बौद्ध) का पक्ष होने के कारण इष्ट नहीं है। और यदि इसके विपरीत देह ही आत्मामें अविद्या से आरोपित है तो आत्मा की सत्ता रहते हुए भी देह की असत्ता सिद्ध होगी। किन्तु यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण इष्ट नहीं है। अतः देह और आत्मा अविद्यावश एक-दूसरे में आरोपित नहीं हैं। तो कैसे हैं?—ये बाँस और खम्भे के समान नित्य संयुक्त हैं[1] ॥ ५५ ॥

---

१ जिस प्रकार खम्भों और बाँसों के संयोग से घर बनता है उसी प्रकार शरीर और आत्मा के संयोग से ही जो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसे समानाधिकरण व्यवहार का विषय होता है उसी को शिष्य आत्मा मानकर ऐसा कह रहा है।

न। अनित्यत्वपरार्थत्वप्रसङ्गात्—संहतत्वात् परार्थत्वं अनित्यत्वं च वंशस्तम्भादिवदेव। किंच यस्तु परैर्देहेन संहतः कल्पित आत्मा स संहतत्वात् परार्थः। तेन असंहतः परोऽन्यो नित्यः सिद्धस्तावत् ॥ ५६ ॥

गुरु—ऐसा नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से तो उनके अनित्यत्व और परार्थत्वका प्रसंग उपस्थित होगा। आपस में संहत (संयुक्त) होने के कारण बाँस और खम्भे के समान ही उनका परार्थत्व और अनित्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा[1]। इसके सिवा अन्य मतावलम्बी जिस आत्मा को देह से संहत कल्पना करते हैं वह तो संहत होने के कारण परार्थ हो जाता है। अतः देह से भिन्न जो आत्मा है वह दूसरा ही है तथा वह तो नित्य ही सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

तस्यासंहतस्य देहे देहमात्रतया अध्यारोपितत्वेन असत्त्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गो भवति। तत्र निरात्मको देह इति वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥ ५७ ॥

शिष्य—किन्तु यदि [संयोग सम्बन्ध से नहीं, तादात्म्य-सम्बन्ध से] इस असंहत आत्मा का देह में देहरूप से अध्यास होता है[2] तो भी इसके असत्त्व और अनित्यत्वादि के दोष का प्रसंग उपस्थित हो ही जाता है, और ऐसा होने

---

१ इस प्रकार अनित्यत्व मानने पर तो संघातवाद की प्राप्ति होगी, अर्थात् ऐसा मानना होगा कि आत्मा कई तत्त्वों से मिलकर बना है। और परार्थ मानने पर आत्मा का अचेतनत्व स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह परप्रकाश्य भी होती है।

२ क्योंकि यदि शरीरादि संहत पदार्थ के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जायगा तो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा व्यवहार होना सम्भव नहीं है। और ऐसा व्यवहार देखा ही जाता है। अतः यदि अपने में अध्यस्त देहादि के साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध मानें...।

पर 'देह आत्मशून्य है' इस वैनाशिक के पक्ष की प्राप्ति का दोष प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

न, स्वत एवात्मनः आकाशस्येव असंहतत्वाभ्युपगमात् सर्वेणासंहतः स च आत्मेति न निरात्मको देहादिः सर्वः स्यात् यथाच आकाशं सर्वेणासंहतमिति सर्वं न निराकाशं भवति एवम् तस्मान्न वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥ ५८ ॥

गुरु—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आकाश के समान आत्मा का स्वभाव से ही असंहतत्व स्वीकार किया गया है। वह आत्मा सभी से असंहत है, इससे देहादि सम्पूर्ण पदार्थ निरात्मक भी सिद्ध नहीं होते, जिस प्रकार कि आकाश सबसे असंहत है, इसलिए सब वस्तु आकाशहीन सिद्ध नहीं होती। अतः यहाँ वैनाशिक के पक्ष की प्राप्ति का दोष नहीं है[1] ॥ ५८ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि देहादि पदार्थ रूपादिमान् होने के कारण सावयव होने से यद्यपि घटादि के समान जड़ हैं तो भी अपने से विलक्षण चेतनरूप प्रतीत होते हैं। इसलिये तपे हुए लोहपिण्ड के समान उनका चेतन-आत्मा से संश्लेष मानना ही चाहिये। तथा उस संघात का साक्षी जो चिन्मात्रस्वभाव निरवयव आत्मा है उसमें आकाश के समान स्वयं परिच्छेद एवं अशुद्धि आदि दोष सम्भव न होने के कारण देह के संश्लेष से ही देह में उसका प्रतिभास होता है। इस प्रकार एक-दूसरे के धर्मों का संसर्ग होने से अनुभव के अनुसार ही उनका एक-दूसरे में अध्यास सिद्ध होता है। इसी से देह में चेतनत्व और आत्मा में गौरत्व-श्यामत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है। यहाँ एक बात विचारणीय है—आरोप-ज्ञान का स्फुरण होने पर जिस वस्तु की प्रतीति उस अन्य वस्तु के उपराग के बिना स्वतन्त्रता से कभी नहीं होती—वह तो स्वरूप से ही आरोपित हुआ करती है, जिस प्रकार आकाश से उपरक्त नीलिमा अथवा मरुभूमि से उपरक्त मृगजल; इनकी प्रतीति आकाश और मरुभूमि के बिना कभी नहीं होती, इसलिये वे स्वरूप से ही अध्यस्त हैं। इनके विपरीत जिसका केवल संसर्गवश ही दूसरे में आरोप होता है, वह स्वरूप से आरोपित नहीं होती; जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्'

यत्पुनरुक्तं देहस्यात्यन्तासत्त्वे प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादिति । तन्न । प्रत्यक्षादिभिः आत्मनि देहस्य सत्त्वानुपलब्धेः । न ह्यात्मनि कुण्डे बदरं क्षीरे सर्पिः तैलं भित्तौ चित्रमिव च प्रत्यक्षादिभिः देह उपलभ्यते । तस्मान्न प्रत्यक्षादिविरोधः ॥ ५९ ॥

और तुमने यह जो कहा कि देहादि का अत्यन्ताभाव मानने पर तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा आत्मामें देह की सत्ता नहीं देखी जाती। कूँडी में बेर, दूध में घी, तिल में तैल और भीत में चित्र के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा में देह नहीं देखा जाता। इसलिये [ऐसा मानने में] प्रत्यक्षादि से भी विरोध नहीं है ॥ ५९ ॥

कथं तर्हि प्रत्यक्षाद्यप्रसिद्धात्मनि देहाध्यारोपणा, देहे च आत्मारोपणा ? ॥ ६० ॥

शिष्य—तो फिर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध आत्मामें देहादि का आरोप और देह में भी आत्मा का आरोप कैसे हो सकता है ? ॥ ६० ॥

नायं दोषः । स्वभावप्रसिद्धत्वादात्मनः । नहि कादाचित्कत्वसिद्धावेव अध्यारोपणा; न नित्यसिद्धौ इति नियन्तुं शक्यं, आकाशे तलमलाद्यध्यारोपणदर्शनात् ॥ ६१ ॥

गुरु—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही प्रसिद्ध है। और ऐसा भी कोई नियम नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी सिद्ध होनेवाली

(यह चाँदी है)' ऐसा अध्यास होने पर जो रजत में शुक्ति के इदमांश का स्फुरण होता है वह स्वरूपतः अध्यस्त नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का भी सुषुप्ति आदि में देहादि के बिना स्वतः स्फुरण होता ही है, इसलिये वह देह में स्वरूपतः अध्यस्त नहीं है, किन्तु देहादि का आत्मसत्ता के बिना स्वतः स्फुरण नहीं होता, इसलिये वे स्वरूपतः अध्यस्त हैं। इससे देहादि का निरात्मकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी अध्यस्तवस्तु बिना अधिष्ठान के नहीं हुआ करती; इसलिये वैनाशिकसम्मत शून्यवाद युक्तियुक्त नहीं है।

वस्तुमें ही आरोप होता है, नित्यसिद्ध वस्तुमें नहीं होता; क्योंकि आकाश में भी नीलता का अध्यास देखा ही जाता है ॥ ६१ ॥

किं भगवन्, देहात्मनोः इतरेतराध्यारोपणा देहादिसंघातकृता अथवा आत्मकृतेति ॥ ६२ ॥

शिष्य—भगवन्! यह देह और आत्मा का अन्योन्याध्यास देहादिसंघात का किया हुआ है या आत्मा का किया हुआ? ॥ ६२ ॥

गुरुरुवाच—यदि देहादिसंघातकृता यदि वा आत्मकृता, किं तत्र स्यात्? ॥ ६३ ॥

गुरु ने कहा—देहादि संघात का किया हुआ हो अथवा आत्मा का किया हुआ इससे क्या? ॥ ६३ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह— यद्यहं देहादिसंघातमात्रः ततो ममाचेतनत्वात् परार्थत्वमिति न मत्कृता देहात्मनोः इतरेतराध्यारोपणा[1]। अथाहमात्मा परोऽन्यः संघातात् चितिमत्त्वात् स्वार्थ इति मयैव चितिमता आत्मनि अध्यारोपणा क्रियते सर्वानर्थबीजभूता ॥ ६४ ॥

ऐसा कहे जाने पर शिष्य बोला—यदि मैं देहादिसंघातमात्र हूँ तो अचेतन होने के कारण मेरा परार्थत्व सिद्ध होता है, इसलिये यह देह और आत्मा का अन्योन्याध्यास मेरा किया हुआ नहीं हो सकता; और यदि मैं इस संघात से भिन्न पर आत्मा हूँ तो चेतन होने के कारण मैं स्वार्थ (अपने ही प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला) हूँ। तब तो यह सारे अनर्थों का बीजभूत अध्यास मुझ चेतन के द्वारा अपने ही में किया जाता है[1] ॥ ६४ ॥

---

[1] इस प्रकार तो मैं स्वयं ही अपने को बन्धन में डालनेवाला सिद्ध होऊँगा, और सामर्थ्य रहते हुए कोई भी जान-बूझकर अपना अनर्थ कर नहीं सकता; इसलिये मेरे द्वारा ही ऐसा विपरीत व्यापार होना कैसे सम्भव है?।

इत्युक्तो गुरुरुवाच—अनर्थबीजभूतां चेत् मिथ्याध्यारोपणां जानीषे मा कार्षीस्तर्हि ॥ ६५ ॥

ऐसा कहे जाने पर गुरु ने कहा—यदि तू इस मिथ्या अध्यारोप को अनर्थ का बीजभूत मानता है तो (अनर्थ हेतु अध्यारोप) न कर ॥ ६५ ॥

नैव भगवन्, शक्नोमि न कर्तुम् । अन्येन केनचित् प्रयुक्तोऽहं न स्वतन्त्र इति ॥ ६६ ॥

शिष्ये—नहीं भगवन्! न करने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ। मैं किसी अन्य के द्वारा प्रेरित हूँ; स्वतन्त्र नहीं हूँ ॥ ६६ ॥

न तर्हि अचितिमत्त्वात् स्वार्थः त्वम्। येन प्रयुक्तः अस्वतन्त्रः प्रवर्तसे स चितिमान् स्वार्थः; संघात एव त्वम् ॥ ६७ ॥

गुरु—तब तो अचेतन होने के कारण तू स्वार्थ नहीं है। जिसके द्वारा प्रेरित होकर तू अस्वतन्त्रता से प्रवृत्त होता है वह चेतन ही स्वार्थ (स्वतन्त्र) है, तू तो संघात ही है ॥ ६७ ॥

यद्यचेतनोऽहं कथं सुखदुःखवेदनां भवदुक्तं च जानामि ॥ ६८ ॥

शिष्य—यदि मैं अचेतन हूँ तो सुख-दुःख के अनुभव और आप के कथन को कैसे जानता हूँ ॥ ६८ ॥

गुरुरुवाच—किं सुखदुःखवेदनाया मदुक्ताच्चान्यस्त्वं, किं वा अनन्य एवेति ॥ ६९ ॥

गुरु ने कहा—तू सुख-दुःख के अनुभव और मेरे कथन से भिन्न है अथवा उनसे अभिन्न ही है ? ॥ ६९ ॥

शिष्य उवाच—नाहं तावदनन्यः। कस्मात् ? यस्मात्तदुभयं कर्मभूतं घटादिकमिव जानामि, यद्यनन्योऽहं तेन तदुभयं न जानीयां, किंतु जानामि तस्मादन्यः। सुखदुःखवेदनाविक्रिया च

स्वार्थैव प्राप्नोति, त्वदुक्तं च स्यात् अनन्यत्वे। न च तयं स्वार्थता युक्ता। नहि चन्दनकण्टककृते सुखदुःखे चन्दनकण्टका घटोपयोगो वा घटार्थः। तस्मात् तद्विज्ञातुर्मम चन्दनादिकृ अर्थः। अहं हि ततोऽन्यः समस्तमर्थं जानामि बुद्ध्यारूढम्।७०

शिष्य बोला—मैं उनसे अभिन्न तो हूँ नहीं, क्यों नहीं हूँ? क्योंकि घटादि के समान कर्मभूत उन दोनों को जानता हूँ। यदि मैं उनसे अभि होता तो उन दोनों को जान नहीं सकता था; किन्तु जानता हूँ, इसलिये भि ही हूँ। उनसे मेरा अभेद होता तो सुख-दुःख का अनुभव रूप विकार स्व ही सिद्ध होता और फिर आपके कहे हुए अनित्यत्व आदि दोष भी प्राप्त जाते। किन्तु उनका स्वार्थ होना उचित नहीं है, क्योंकि चन्दन और काँटे होनेवाले सुख और दुःख चन्दन और काँटे के ही लिए नहीं होते तथा घ उपयोग भी घट के लिये ही नहीं होता। अतः चन्दनादि का किया हुआ उसके ज्ञाता मेरे ही लिए हैं, और मैं तो उससे भिन्न हूँ तथा अपनी बुद्धि पर आरूढ हुए उस समस्त कार्य को जानता हूँ॥ ७०॥

तं गुरुरुवाच—एवं तर्हि स्वार्थस्त्वं चितिमत्त्वान्न परे प्रयुज्यसे। नहि चितिमान् परतन्त्रः परेण प्रयुज्यते—चितिम श्चितिमदर्थत्वानुपपत्तेः समत्वात्प्रदीपप्रकाशयोरिव। नापि अचिति मदर्थत्वं चितिमतो भवति, अचितिमतोऽचितिमत्त्वादेव स्वार्थ सम्बन्धानुपपत्तेः। नापि अचितिमतोः अन्योन्यार्थत्वं दृष्ट नहि काष्ठकुड्ये अन्योन्यार्थं कुर्वाते॥ ७१॥

तब उससे गुरु ने कहा—इस प्रकार तब तो तू स्वार्थ ही है और चेत होने के कारण किसी अन्य के द्वारा प्रयुक्त नहीं होता। चेतन पदार्थ परत होकर किसी अन्य के द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ करता, क्योंकि दीपक और प्रका समान तुल्य होने के कारण किसी चेतन का अन्य चेतन के लिये होना सम्भ नहीं है। इसके सिवा चेतन का किसी अचेतन के लिये होना भी सम्भव नहीं

क्योंकि अचेतन का अचेतन होने के कारण ही स्वार्थ सम्बन्ध होना असम्भव है; और न तो अचेतनों का ही एक दूसरे के लिये ही होना देखा गया है, काष्ठ और भित्ति ये एक-दूसरे का कार्य सिद्ध नहीं कर सकते ॥ ७१ ॥

ननु चितिमत्त्वे समेऽपि भृत्यस्वामिनोः अन्योन्यार्थत्वं दृष्टम् ॥ ७२ ॥

शिष्य—किन्तु समानरूप से चेतनता होने पर भी स्वामी और सेवक का एक-दूसरे के लिये होना देखा जाता है ॥ ७२ ॥

नैवं—अग्नेरुष्णप्रकाशवत् तव चितिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, प्रदर्शितश्च दृष्टान्तः प्रदीपप्रकाशयोरिति । तत्रैवं सति स्वबुद्ध्या-रूढमेव सर्वमुपलभसे अग्न्युष्णप्रकाशतुल्येन कूटस्थनित्यचैतन्य-स्वरूपेण । यदि चैवमात्मनः सर्वदा निर्विशेषत्वमुपगच्छसि किमित्यूचिवान् सुषुप्ते विश्रम्य विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोः दुःखमनु-भवामि इति । किं अयमेव मम स्वभावः किंवा नैमित्तिकः इति च । किमसौ व्यामोहोऽपगतः किंवा नेति ॥ ७३ ॥

गुरु—ऐसी बात नहीं है; हमें तेरा चेतनत्व तो अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश के समान बतलाना है । इस विषय में दीपक और प्रकाश का दृष्टान्त भी दिखलाया जा चुका है । ऐसा होने के कारण अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश के समान तू अपने कूटस्थ नित्यचैतन्यस्वरूप से ही अपनी बुद्धि पर आरूढ हुए समस्त पदार्थों का अनुभव करता है[1] । यदि इस प्रकार तू आत्मा के

[1] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से व्याप्त हुए पदार्थों को स्वभाव से ही प्रकाशित कर देता है, उसके लिये उसे कोई व्यापार नहीं करना पड़ता, इसी प्रकार आत्मा भी बुद्धि-शक्ति पर आरूढ हुए सुखदुःखादि को अपने स्वाभाविक चेतनत्व से प्रकाशित कर देता है, उसके लिये उसे कोई व्यापार नहीं करना पड़ता । अतः स्वामिचैतन्य का उपकारक सेवक का शरीररूप अचेतन

नित्य निर्विशेषत्व को समझ गया है तो 'मैं सुषुप्ति में विश्राम ले-लेकर जाग्रत् और स्वप्नावस्था में बारम्बार दुःख अनुभव करता हूँ। क्या यह मेरा स्वभाव ही है, अथवा किसी निमित्तवश है' ऐसा तूने क्यों कहा था? । अब तेरा वह मोह दूर हो गया या नहीं? ॥ ७३ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह—भगवन्, अपगतः त्वत्प्रसादात् व्यामोहः। किंतु मम कूटस्थतायां संशयः। कथम्? शब्दादीनां स्वतःसिद्धिर्नास्ति, अचेतनत्वात्—शब्दाद्याकारप्रत्ययोत्पत्तेस्तु तेषाम्। प्रत्ययानामितरेतरव्यावृत्तविशेषणानां नीलपीताद्याकारवतां स्वतःसिद्ध्यसंभवात्। तस्माद्बाह्याकारनिमित्तत्वं गम्यते इति बाह्याकारवत् शब्दाद्याकारत्वसिद्धिः। तथा प्रत्ययानामपि अहंप्रत्ययालम्बनवस्तुभेदानां संहतत्वात् अचैतन्योपपत्तेः। स्वार्थत्वासंभवात्—स्वरूपव्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वेन सिद्धिः शब्दादिवदेव। असंहतत्वे सति चैतन्यात्मकत्वात् स्वार्थोऽपि अहंप्रत्ययानां नीलपीताद्याकाराणामुपलब्धेति विक्रियावानेव, कथं कूटस्थः इति संशयः॥ ७४ ॥

गुरु के ऐसा कहने पर शिष्य बोला—भगवन्! आपकी कृपा से मेरा मोह निवृत्त हो गया। किन्तु मुझे अपनी कूटस्थता[1] के विषय में सन्देह है। किस प्रकार सन्देह है? [सो बतलाता हूँ—] शब्दादि अचेतन हैं, इसलिये उनकी

भाग ही हैं, उसका आत्मा नहीं; तथा सेवक के चैतन्य भाग का उपकारक भी स्वामी का शरीररूप अचेतन भाग ही है, स्वामिचैतन्य नहीं। उनके चेतनभाग एक-दूसरे के अचेतन भागों द्वारा हुए उपकारों के केवल प्रकाशक मात्र हैं।

१ 'कूट' निहाई को कहते हैं जिस पर रख कर सुनार या लुहार चीजें गढ़ते हैं। उस पर कितनी ही चोट की जाय वह निर्विकार ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी निर्विकार है। इसलिये उसे कूटस्थ कहते हैं।

स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती; उनकी सिद्धि तो शब्दादिरूप ज्ञान की उत्पत्ति से ही होती है। तथा जिनके विशेषण एक-दूसरे से पृथक् हैं ऐसे जो नील-पीतादि आकार वाले ज्ञान हैं उनकी भी स्वतःसिद्धि असम्भव है; अतः उनका भी बाह्याकार-निमित्तक होना सिद्ध होता है, इससे बाह्य आकारों के समान शब्दादि के आकारवत्त्व की भी सिद्धि होती है। इसी प्रकार अहंप्रत्यय की आलम्बनभूत वस्तु [अर्थात् अन्तःकरण] के भेदरूप शब्दादि ज्ञान भी संहत होने के कारण अचेतन होने चाहिये। ऐसी अवस्था में उनका स्वार्थत्व असम्भव होने के कारण शब्दादि के समान उनकी सिद्धि भी अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त ग्राहक के द्वारा ग्राह्य रूप से ही हो सकती है। अतः असंहत होने के कारण स्वार्थ होने पर भी आत्मा चैतन्यस्वरूप होने के कारण अन्तःकरण की नील-पीतादि-रूप वृत्तियों को उपलब्ध करनेवाला है, इसलिये वह विकारी ही है, कूटस्थ किस प्रकार हो सकता है? यही मुझे सन्देह है[1] ॥ ७४ ॥

तं गुरुरुवाच--न युक्तस्तव संशयः। यतस्तेषां प्रत्ययानां नियमेन अशेषतः उपलब्धेरेव अपरिणामित्वात् कूटस्थत्वसिद्धौ

[1] तात्पर्य यह है कि शब्दादि विषय अचेतन हैं, अतः उनका स्फुरण तदाकार ज्ञान के ही अधीन है, जिस प्रकार घटादि प्रकाशशून्य पदार्थ प्रकाश से व्याप्त होने पर ही जाने जाते हैं उसी प्रकार शब्दादि विषयों का ज्ञान भी अन्तःकरण की वृत्ति के तदाकार होने पर ही होता है। इससे विज्ञानवादी बौद्ध का यह मत भी खण्डित हो जाता है कि बाह्य पदार्थ कोई नहीं है; यह जो कुछ प्रतीत होता है विज्ञान का ही परिणाम है; क्योंकि बाह्य पदार्थों की असत्ता स्वीकार की जाय तो वृत्तियों के नील-पीतादि भेद का क्या कारण बतलाया जायगा? इसके सिवा यदि सब पदार्थों को आन्तर ही माना जाय तो 'अयं नीलः' के स्थान में 'अहं नीलः' ऐसा ज्ञान होना चाहिये। अतः उनका यह मत ठीक नहीं है। किन्तु ये नील-पीतादि ज्ञान भी संहत होने के कारण अचेतन हैं, अतः इनका प्रकाशक भी कोई अन्य ही होना चाहिये। वह अन्य आत्मा के सिवा और कोई हो नहीं सकता। और वह उन्हें तदाकार होकर ही प्रकाशित करेगा। इससे आत्मा का विकारी होना सिद्ध होता है। यही शिष्य की शंका है।

निश्चयहेतुमेव अशेषचित्तप्रचारोपलब्धिं संशयहेतुमात्थ। यदि हि तव परिणामित्वं स्यात् अशेषस्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धिर्न स्यात् चित्तस्येव स्वविषये। यथा चेन्द्रियाणां स्वविषयेषु। नच तथाऽऽत्मनस्तव स्वविषयैकदेशोपलब्धिः। अतः कूटस्थतैव तवेति ॥ ७५ ॥

तब उससे गुरु ने कहा—तेरा यह संशय ठीक नहीं है, क्योंकि जो ज्ञ प्रत्ययों की नियम से पूर्णतया उपलब्धि अपरिणामिनी होने के कारण आत्मा कूटस्थत्व की सिद्धि का निश्चय होने में हेतु है उस सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों की उपलब्धि को ही तू अपने संशय का कारण बतलाता है। [1]यदि तू परिणामी होता तो तुझे अपने विषय के प्रति चित्त की सम्पूर्ण गतियों का ज्ञान न होता जैसे कि चित्त को अपने विषय का तथा इन्द्रियों को अपने विषयों का [केवल एक देशीय ज्ञान होता है] उनके समान तुझ आत्मा को अपने विषय के केवल एक देश की ही उपलब्धि नहीं होती। इससे तेरी कूटस्थता ही सिद्ध होती है ॥ ७५ ॥

तत्राह—उपलब्धिर्नाम धात्वर्थो विक्रियैव, उपलब्धुः कूटस्थात्मता चेति विरुद्धम् ॥ ७६ ॥

---

१ अर्थात् तेरा जो यह कथन है कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ परस्पर व्यावृत्त स्वरूपा होने के कारण जड़ हैं; अतः उन सब का भी कोई प्रकाशक होना चाहिये और वह आत्मा ही हो सकता है; अतः आत्मा विकारी है—यही उसकी कूटस्थता सिद्ध करता है, क्योंकि आत्मा उन वृत्तियों के केवल किसी अंश विशेष का ही प्रकाशक नहीं है, बल्कि अन्तःकरण की जितनी भी ज्ञात और अज्ञात वृत्तियाँ हैं उन सभी का एक रूप से प्रकाशक है। जो विकारी प्रकाशक होते हैं वे विषय के केवल अंशमात्र को प्रकाशित करते हैं, जैसे नेत्र घटका सामने का ही भाग देख सकता है पीछे का नहीं। आत्मा ऐसा नहीं है; वह ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सभी वृत्तियों का अखण्ड प्रकाशक है, इसलिये निश्चय निर्विकार है।

तब शिष्य बोला—उपलब्धि तो धात्वर्थ है, इसलिए विकार ही है[1], और उपलब्धा (प्रत्यक्षकर्ता) की कूटस्थता बतलायी जाती है—सो तो विरुद्ध ही है ॥७६॥

न । धात्वर्थविक्रियायां उपलब्ध्युपचारात् । यो हि बौद्धः प्रत्ययः स धात्वर्थो विक्रियात्मकः । आत्मनः उपलब्ध्याभासफलावसान इति उपलब्धिशब्देन उपचर्यते । यथा छिदिक्रिया द्वैधीभावफलावसानेति धात्वर्थेन उपचर्यते, तद्वत् ॥ ७७ ॥

[गुरु] यह नहीं है, क्योंकि धातु के अर्थरूप विकार में तो उपलब्धि का उपचार (गौणप्रयोग) होता है। बुद्धिजनित ज्ञान ही विकाररूप धात्वर्थ हुआ करता है, आत्मा की [स्वरूपभूता] उपलब्धि तो अपने आभासरूप फलपर्यन्त ही है। अतः उसका 'उपलब्धि' शब्द से उसी प्रकार उपचार किया जाता है जैसे किसी वस्तु के दो खण्ड होने में समाप्त हो जाने वाली छेदनक्रिया का धातु के अर्थरूप से उपचार किया जाता है[2] ॥ ७७ ॥

---

१ 'उप' उपसर्गपूर्वक 'लभ्' धातु को 'तृच्' प्रत्यय होने से 'उपलब्धृ' शब्द सिद्ध होता है। अतः यह धात्वर्थ यानी क्रिया है। और प्रत्येक क्रिया उत्पत्तिविनाशशील होने के कारण विकाररूपा होती है। इसलिये यह भी विकार ही है।

२ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी वस्तु के दो खण्ड हो जाने में छेदन क्रिया का उपचार (गौण प्रयोग) होता है उसी प्रकार तपे हुए लोहे में अग्नि के व्याप्त होने के समान चिदाभासरूप से बुद्धिवृत्तियों में व्याप्त होने के कारण चेतन आत्मा में उपलब्धि क्रिया का उपचार होता है। जिस प्रकार लोह पिण्ड में व्याप्त हुआ अग्नि सर्वथा निष्क्रिय और निर्विकार होते हुए भी जलाता है, प्रकाश करता है इस प्रकार क्रियावान्-सा बतलाया जाता है उसी प्रकार यद्यपि चिदाभासविशिष्ट अन्तःकरण ही समस्त पदार्थों का उपलब्धा है तथापि अपने स्वाभाविक चैतन्य से अन्तःकरण को पदार्थोपलब्धि का सामर्थ्य प्रदान करने के कारण आत्मा को ही उपलब्धा कहा जाता है।

इत्युक्तः शिष्य आह—ननु भगवन्, मम कूटस्थत्वप्रतिपादनं प्रति असमर्थो दृष्टान्तः। कथम्? छिदिः छेद्यविक्रियावसाना उपचर्यते यथा धात्वर्थत्वेन तथा उपलब्धिशब्दोपचरितो धात्वर्थो बौद्धप्रत्ययः आत्मनः उपलब्धिविक्रियावसानश्चेत् नात्म कूटस्थतां प्रतिपादयितुं समर्थः॥ ७८॥

ऐसा कहे जाने पर शिष्य बोला -- किन्तु भगवन्! यह दृष्टान्त तो मेरी कूटस्थता का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है। [गुरु—] किस प्रकार? [शिष्य—] क्योंकि जिस प्रकार छिदिक्रिया का उपचार छेद्य वस्तु के विकार में किया जाता है उसी प्रकार 'उपलब्धि' शब्द से उपचरित हुए धात्वर्थरूप बौद्धप्रत्यय फल भी यदि आत्मा के उपलब्धिरूप विकार में ही है तो वह आत्मा की कूटस्थता का प्रतिपादन नहीं कर सकता[1]॥ ७८॥

गुरुरुवाच—सत्यमेवं स्यात् यदि उपलब्ध्युपलब्ध्रोः विशेषः नित्योपलब्धिमात्र एव हि उपलब्धा; नतु तार्किकसमय इव अन्य उपलब्धिः, अन्य उपलब्धा च॥ ७९॥

गुरुने कहा—यदि उपलब्धि और उपलब्धामें भेद होता तब तो तुम्हारा कथन ठीक हो सकता था। यह उपलब्धा तो नित्योपलब्धिमात्र[2] ही है। नैयायिक मतके अनुसार (हमारे सिद्धान्तमें) उपलब्धि अन्य हो और उपलब्धा अन्य हो–ऐसी बात नहीं है॥ ७९॥

१ यहाँ शिष्य यह शंका करता है कि जिस प्रकार छेदन क्रिया से निष्पन्न होने वाला वस्तु का द्वैधीभाव एक विकार है उसी प्रकार उपलब्धि भी एक विकार ही है। अतः बौद्ध प्रत्ययरूप उपलब्धि का भले ही आत्मा में उपचार होता हो तो भी साध्य होने के कारण उपलब्धि विकार ही है, क्योंकि साध्य वस्तु अनित्य होता है। अतः उसका कर्ता आत्मा कूटस्थ नहीं हो सकता।

२ यहाँ 'नित्य' शब्दसे क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध का व्यावर्तन किया है और 'मात्र' शब्दसे भेदाभेद मत का।

ननु उपलब्धिफलावसानो धात्वर्थः कथमिति ॥ ८० ॥

शिष्य—तो फिर उपलब्धि शब्द का धात्वर्थ उपलब्धिरूप फलपर्यन्त है—यह किस प्रकार संगत होगा ? ॥ ८० ॥

उच्यते—शृणु—उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युक्तं किं न श्रुतं तत् त्वया, नतु आत्मा विक्रियोत्पादनावसान इति मयोक्तम् ॥८१॥

गुरु—बतलाते हैं, सुन, क्या तूने यह नहीं सुना कि उपलब्धिके आभासरूप फलपर्यन्त ही इसका धात्वर्थ है—ऐसा मैंने कहा था; आत्मा विकारोत्पत्तिरूप फलपर्यन्त है—ऐसा मैंने नहीं कहा[1] ॥ ८१ ॥

शिष्य उवाच-कथं तर्हि कूटस्थे मयि अशेषस्वविषयचित्त-प्रचारोपलब्धृत्वमित्यात्थ ॥ ८२ ॥

शिष्य बोला—तो फिर आपने ऐसा क्यों कहा था कि मुझे कूटस्थ में अपने चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का उपलब्धृत्व (उपलंभकर्तृत्व) है ? ॥ ८२ ॥

तं गुरुरुवाच-सत्यमवोचं, तेनैव कूटस्थतामब्रुवं तव ॥८३॥

उससे गुरु ने कहा—मैंने ठीक कहा था, इसीसे मैंने तेरी कूटस्थता भी तो बतलायी थी ॥ ८३ ॥

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्योपलब्धिस्वरूपे मयि शब्दाद्या-

---

१ उपलब्धि आत्मा का स्वरूप ही है, यदि वह उसका फल या गुण होती तो अनित्य होती और ऐसी अवस्था में आत्मा की कूटस्थता सिद्ध नहीं हो सकती थी। परन्तु बात ऐसी है नहीं, उपलब्धि आत्मा का स्वरूप ही है। उस स्वरूप चैतन्य के बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि चैतन्यवत् प्रतीत होती है। उस बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम चिदाभास है। वही बुद्धि वृत्तियों के परिणाम का प्रकाशक है। उसी के कारण एक ही अविकारी चेतन उपाधिवश कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता आदि नामों से पुकारा जाता है, परन्तु वस्तुतः वह असंग कूटस्थ ही है।

कारबौद्धप्रत्ययेषु च मत्स्वरूपोपलब्ध्याभासफलावसानवत्सु उत्प
मानेषु कस्त्वपराधो मम ॥ ८४ ॥

शिष्य—भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थनित्योपलब्धिस्वरूप मेरी स्वरूपभूता उपलब्धिके आभासरूप फलमें पर्यवसित होनेवाले शब्दादि बौद्धज्ञानों के उत्पन्न होने में मेरा क्या अपराध है ?[1] ॥ ८४ ॥

सत्यम् नास्त्यपराधः; किंतु अविद्यामात्रस्तु अपराध प्रागेवावोचम् ॥ ८५ ॥

गुरु—ठीक है, तेरा अपराध नहीं है; किन्तु अविद्यामात्र तो अपरा ही–ऐसा मैं पहले ही कह चुका हूँ ॥ ८५ ॥

यदि भगवन्, सुषुप्त इव मम विक्रिया नास्ति कथं स जागरिते ? ॥ ८६ ॥

शिष्य—किन्तु भगवन्! यदि सुषुप्तावस्था के समान मुझमें विकार नहीं तो मुझे स्वप्न और जागरित अवस्थाएं कैसी होती हैं ? ॥ ८६ ॥

तं गुरुरुवाच–किंत्वनुभूयेते त्वया सततम् ॥ ८७ ॥

तब उससे गुरु ने कहा—किन्तु तुम इन अवस्थाओं का निरन्तर अ तो करते हो ? ॥ ८७ ॥

बाढम् अनुभवामि, किंतु विच्छिद्य विच्छिद्य नतु सततम् ॥ ८

शिष्य—हाँ, अनुभव तो करता हूँ; परन्तु व्यवधान से अनुभव करता निरन्तर नहीं ॥ ८८ ॥

तं गुरुरुवाच–तर्हि आगन्तुके त्वेते न तवात्मभूते, यदि त

1 गुरु के तात्पर्य को न समझकर शिष्य फिर यही शंका करता है कि मैं नित्योपलब्धि स्वरूप हूँ और सारे बौद्धप्रत्यय मेरे ही आभास से प्रका होते हैं तो इन शब्दादि ज्ञानों का ग्रहीता होने में मेरा क्या अपराध है ? । इनका ग्रहीता होने के कारण मैं हठात् विकारी ही सिद्ध होता हूँ ।

त्मभूते चैतन्यस्वरूपवत् स्वतःसिद्धे संतते एव स्याताम्। किंच स्वप्नजागरिते न तव आत्मभूते, व्यभिचारित्वात् वस्त्रादिवत्। नहि यस्य यत्स्वरूपं तत् तद्व्यभिचारि दृष्टम्। स्वप्नजागरिते तु चैतन्यमात्रत्वाद् व्यभिचरतः। सुषुप्ते चेत् स्वरूपं व्यभिचरेत् तन्नष्टं नास्तीति वा बाध्यमेव स्यात्, आगन्तुकानां अतद्धर्माणां उभयात्मकत्वदर्शनात्; यथा धनवस्त्रादीनां नाशो दृष्टः, स्वप्नभ्रान्तिलब्धानां तु अभावो दृष्टः ॥ ८९ ॥

उससे गुरु ने कहा—तब तो ये आगन्तुक ही हैं, तेरी स्वरूपभूता नहीं हैं। यदि चैतन्यस्वरूप के समान ये तेरी स्वरूपभूता और स्वतःसिद्धा ही होतीं तो निरन्तर ही रहतीं। किन्तु वस्त्रादि के समान व्यभिचारिणी (आगमापायिनी) होने के कारण स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाएँ तेरी स्वरूपभूता नहीं हैं, क्योंकि जो जिसका स्वरूप होता है वह उससे व्यभिचारी (अलग रहनेवाला) नहीं देखा जाता। किन्तु स्वप्न और जाग्रत् का तो चैतन्यस्वभाव आत्मा से व्यभिचार (विच्छेद) होता है। यदि सुषुप्तावस्था में भी स्वरूपका व्यभिचार माना जाय तो वह या तो नष्ट हो जाता है या नहीं है इसलिये उसका बाध ही हो जाता है, क्योंकि वस्तु में न रहनेवाले आगन्तुक धर्म ऐसे दो ही प्रकार के देखे जाते हैं, जैसे धन और वस्त्रादि का तो नाश देखा जाता है और स्वप्न एवं भ्रान्ति से प्राप्त हुए पदार्थों का सर्वथा अभाव देखा गया है ॥ ८९ ॥

नन्वेवं भगवन्, चैतन्यस्वरूपमपि आगन्तुकं प्राप्तम्। स्वप्नजागरितयोरिव सुषुप्ते अनुपलब्धेः। अचैतन्यस्वरूपो वा स्यामहम् ॥ ९० ॥

शिष्य—किन्तु भगवन्! इस प्रकार तो चैतन्यस्वरूप भी आगन्तुक सिद्ध होता है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के समान सुषुप्ति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। अथवा मुझमें अचैतन्यस्वरूपता की आपत्ति भी हो सकती है ॥ ९० ॥

न, पश्य तदनुपपत्तेः। चैतन्यस्वरूपं चेत् आगन्तुकं पश्यसि पश्य। नैतद्वर्षशतेनापि उपपत्त्या कल्पयितुं शक्नुमो वयम्, अन्यो वाऽचैतन्योऽपि। संहतत्वात् पारार्थ्यं अनेकत्वं नाशित्वं च केनचित् उपपत्त्या वारयितुं शक्यम्। अस्वार्थस्य स्वतःसिद्ध्यभावादित्यवोचाम। चैतन्यस्वरूपस्य तु आत्मनः स्वतःसिद्धेः अन्यानपेक्षत्वं न केनचित् वारयितुं शक्यम्, अव्यभिचारात् ॥६१॥

गुरु—नहीं, देख, ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि तू चैतन्यस्वरूप को आगन्तुक देखता है तो देख; हम तो युक्ति द्वारा सौ वर्ष में भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, और न कोई अन्य मूढ पुरुष भी ऐसा समझ सकता है। [उस अवस्था में] संहत होने के कारण इसकी परार्थता, अनेकता, और नाशशीलता को भी कोई युक्ति के द्वारा निवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्वार्थ नहीं है उसकी स्वतःसिद्धि नहीं हो सकती—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं। किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वतःसिद्ध है, इसलिये उसके अन्य की अपेक्षा से रहित होने को कोई नहीं रोक सकता, क्योंकि वह अव्यभिचारी है ॥ ६१ ॥

ननु व्यभिचारो दर्शितो मया सुषुप्ते न पश्यामीति ॥ ६२ ॥

शिष्य—किन्तु 'सुषुप्ति में मैं नहीं देखता' इस प्रकार मैंने उसका व्यभिचार दिखलाया न? ॥ ६२ ॥

न, व्याहतत्वात्। कथं व्याघातः? पश्यतस्तव न पश्यामि इति व्याहतं वचनम्। नहि कदाचित् भगवन्, सुषुप्ते मया चैतन्यं अन्यद्वा किंचिद् दृष्टम्। पश्यन् तर्हि सुषुप्ते त्वम्, यस्मात् दृष्टमेव प्रतिषेधसि न दृष्टिम्। या तव दृष्टिः तत् चैतन्यमिति मयोक्तम्। यया त्वं विद्यमानया न किंचित् दृष्टमिति प्रतिषेधसि सा दृष्टिः तच्चैतन्यम्। तर्हि सर्वत्र

भिचारात् कूटस्थनित्यत्वं सिद्धं स्वत एव न प्रमाणापेक्षम्। स्वतःसिद्धस्य हि प्रमातुः अन्यस्य प्रमेयस्य परिच्छित्तिं प्रति प्रमाणापेक्षा। या तु अन्या नित्या परिच्छित्तिः अपेक्ष्यते अन्यस्य अपरिच्छित्तिरूपस्य परिच्छेदाय सा हि नित्यैव कूटस्था स्वयंज्योतिःस्वभावा, आत्मनि प्रमाणत्वे प्रमातृत्वे वा न तां प्रति प्रमाणापेक्षा, तत्स्वभावत्वात्। यथा प्रकाशनं उष्णत्वं वा लोहोदकादिषु परतः अपेक्षते अग्न्यादित्यादिभ्यः; अतत्स्वभावत्वात्। न अग्न्यादित्यादीनां तदपेक्षा सर्वदा तत्स्वभावत्वात् ॥६३॥

[गुरु—] ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस कथन में व्याघात (विरोध) है। किस प्रकार व्याघात है ?—क्योंकि देखते हुए भी 'मैं नहीं देखता' इस प्रकार तेरा कथन व्याहत हो जाता है। [तू जो कहता है कि] 'भगवन्! मैंने सुषुप्ति में चैतन्य अथवा कोई और वस्तु कभी नहीं देखी' इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि सुषुप्ति में भी तू देखता रहता है, क्योंकि तू देखे हुए का ही निषेध करता है, देखने का तो नहीं करता। और जो तेरी दृष्टि है वही चैतन्य है—ऐसा मैं कह चुका हूँ। जिसके विद्यमान रहते हुए तू 'मैंने कुछ नहीं देखा' इस प्रकार निषेध करता है वह दृष्टि तेरा चैतन्य ही है। तब तो सर्वत्र अव्यभिचार होने के कारण तेरा कूटस्थ नित्यत्व स्वयं ही सिद्ध है, उसे किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। स्वतःसिद्ध प्रमाता को ही अपने से भिन्न प्रमेय की परिच्छित्ति (स्फूर्ति) के लिये प्रमाण की अपेक्षा हुआ करती है। किन्तु जिस नित्य परिच्छित्ति (संवित्) की अन्य अचेतनरूप पदार्थों के प्रकाशन के लिये अपेक्षा होती है वह नित्या, कूटस्था और स्वयंप्रकाशरूपा ही है। आत्मा के प्रमाणत्व अथवा प्रमातृत्व में उस संवित् को किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ये उसके स्वभाव ही हैं, जिस प्रकार कि लोहे और जल आदि में प्रकाशन अथवा उष्णत्व की अन्य अग्नि एवं आदित्यादि से अपेक्षा होती है, क्योंकि वे उनके स्वभाव नहीं हैं; किन्तु अग्नि या सूर्य को [उनके लिये] किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि ये उनके स्वभाव ही हैं ॥६३॥

अनित्यत्वे एव प्रमा स्यात्, न नित्यत्वे इति चेत् ॥ ६४

शिष्य—किन्तु [1]प्रमा तो अनित्य ज्ञान होनेपर ही होती है, नित्यज्ञान होने तो नहीं होती[2] ॥ ६४ ॥

न, अवगतेः नित्यत्वानित्यत्वयोः विशेषानुपपत्तेः । नहि अ गतेः प्रमात्वे अनित्या अवगतिः प्रमा; न नित्या इति विशे अवगम्यते ॥ ६५ ॥

गुरु—ऐसी बात नहीं है, ज्ञान के नित्य अथवा अनित्य होने से उ प्रमात्व में कोई विशेषता नहीं होती; क्योंकि किसी ज्ञान के प्रमा होने में अनित्य ज्ञान है वही प्रमा है, नित्य ज्ञान प्रमा नहीं है—ऐसी कोई विशेषता देखी जाती ॥ ६५ ॥

नित्यायां प्रमातुः अपेक्षाभावः । अनित्यायां तु यत्नान्तरि त्वात् अवगतिः अपेक्ष्यत इति विशेषः स्यादिति चेत् ॥ ६६ ॥

शिष्य—नित्य ज्ञान में प्रमाता की अपेक्षा नहीं, किन्तु अनित्य ज्ञान प्र के यत्न से साध्य है; इसलिये उसमें अवगति (प्रतीति) की अपेक्षा है— विशेषता बतलायी जाय तो ? ॥६६॥

---

[1] अनधिगत-अबाधितार्थ-विषयक ज्ञान का नाम प्रमा है। अर्थात् जो पूर्वानुभूत नहीं है और जिसका अनन्तर बाध भी नहीं होता उसे प्रमा कहते स्मृति पूर्वानुभवपूर्वक होती है, इसलिये 'अनधिगत' शब्द से उसका व्याव किया जाता है तथा रज्जु में सर्पज्ञान, शुक्ति में रजतज्ञान आदि भ्रम पीछे बाधि हो जाते हैं, अतः 'अबाधित' शब्द से भ्रमज्ञान का व्यावर्तन हो जाता है।

[2] प्रमाण के फल का नाम प्रमा है। यथार्थ घट में घट बुद्धि होना है। वह प्रमाणजनित होने के कारण अनित्य होती है। अतः जहाँ-जहाँ भी होती है वह अनित्य हुआ करती है। इसलिये यदि आत्मज्ञान नित्यसिद्ध है वह प्रमा नहीं कहा जा सकता।

सिद्धा तर्हि आत्मनः प्रमातुः स्वतःसिद्धिः प्रमाणनिरपेक्षतयैवेति ॥ ६७ ॥

गुरु—तब तो प्रमाण की निरपेक्षता से ही प्रमाता आत्मा की स्वतःसिद्धि सिद्ध हो जाती है ॥ ६७ ॥

अभावेऽपि अपेक्षाऽभावः, नित्यत्वात् इति चेत् ॥ ६८ ॥

शिष्य—प्रमा का अभाव होने पर भी नित्य होने के कारण उसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है—ऐसा मानें तो ? ॥ ६८ ॥

न, अवगतेरेव आत्मनि सद्भावादिति परिहृतमेतत्। प्रमातुश्चेत् प्रमाणापेक्षा सिद्धिः कस्य प्रमित्सा स्यात्। यस्य प्रमित्सा स एव प्रमाता अभ्युपगम्यते। तदीया च प्रमित्सा प्रमेयविषयैव; न प्रमातृविषया। प्रमातृविषयत्वे अनवस्थाप्रसङ्गात्। प्रमातुः तदिच्छायाश्च तस्याप्यन्यः प्रमाता तस्याप्यन्य इति। एवमेव इच्छायाः प्रमातृविषत्वे प्रमातुरात्मनः अव्यवहितत्वाच्च प्रमेयत्वानुपपत्तिः। लोके हि प्रमेयं नाम प्रमातुः इच्छास्मृतिप्रयत्नप्रमाणजन्मव्यवहितं सिद्धयति; नान्यथा। अवगतिः प्रमेयविषया दृष्टा। नच प्रमातुः प्रमाता स्वस्य स्वयमेव केनचित् व्यवहितः कल्पयितुं शक्य इच्छादीनामन्यतमेनापि। स्मृतिश्च स्मर्तव्यविषया; न स्मर्तृविषया। तथा इच्छायाः इष्टविषयत्वमेव, न इच्छावद्विषयत्वम्। स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वेऽपि हि उभयोः अनवस्था पूर्ववदपरिहार्या स्यात् ॥६९॥

गुरु—नहीं, स्वयं अवगति ही आत्मा में रहती है—ऐसा कहकर हम पहले ही इस शंका का निवारण कर चुके हैं। यदि प्रमाता की सिद्धि प्रमाण के अधीन हो तो प्रमाण की अपेक्षा किसको होगी ?। जिसको प्रमाण की अपेक्षा होती है उसे

ही प्रमाता माना जाता है[१]। और उसकी प्रमाणेच्छा प्रमेयविषयिणी ही है प्रमातृविषयिणी नहीं होती। यदि उसे प्रमातृविषयिणी मानेंगे तो प्रमाता उसकी इच्छा का कोई दूसरा प्रमाता मानना होगा और उसका कोई दूसरा—प्रकार अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा। इसी प्रकार इच्छा को यदि प्रमातृविषयिणी मानें तो प्रमाता आत्मा अव्यवहित होने के कारण प्रमेय नहीं हो सकता और लोक में प्रमेय प्रमाता से इच्छा स्मृति प्रयत्न और प्रमाण के जन्म व्यवहित ही सिद्ध होता है,[२] अन्य प्रकार से नहीं। अवगति भी प्रमेयविषयिणी ही देखी गयी है, स्वयं प्रमाता अपनी ही इच्छा आदि में से किसी के व्यवहित कल्पित नहीं हो सकता। स्मृति भी स्मरण की जानेवाली वस्तु ही विषय करने वाली होती है, स्वयं स्मरण करने वाले को नहीं। इसी प्रकार इच्छा भी इष्ट वस्तु विषयिणी ही होती है, इच्छा करने वाले को विषय करती। यदि स्मृति स्मरण कर्ता को और इच्छा इच्छा करने वाले को करने वाली हों तो पूर्ववत् उन दोनों की अनवस्था भी अनिवार्य होगी ॥६४

१ तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ ज्ञात और अज्ञात रूप से प्रमाता की ही विषय हैं। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर यदि कभी अज्ञात समझकर निर्विकल्प साक्षी चैतन्य को जानने की इच्छा होगी तो उसके ज्ञातत्व की के लिये जिसे यह इच्छा होगी वही प्रमाण का आश्रयभूत प्रमाता होगा। समय प्रमाता की स्वरूपसिद्धि के लिये प्रमाण की अपेक्षा होगी। किन्तु होगी किसे—उसी प्रमाता को या किसी अन्य को ? और वह होगी किसे के लिये—अपने को ही या किसी दूसरे को ? अतः किसी भी प्रकार प्रमाता जानने की इच्छा उपपन्न नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ जो इच्छा का आश्रय वह उसका विषय नहीं हो सकता। अब, जो ऐसी शंका होती है कि आ स्वयं ही अपना प्रमाता क्यों नहीं है उसका निराकरण करते हैं।

२ अर्थात् इच्छा का विषयभूत प्रमेय इच्छा के जन्म से व्यवहित होता स्मृति का विषयभूत प्रमेय स्मृति के जन्मद्वारा व्यवहित होता है, प्रयत्न विषयभूत प्रमेय प्रयत्न के जन्म से व्यवहित होता है और प्रमाण का विषय प्रमेय प्रमाण के जन्मद्वारा व्यवहित होता है।

ननु प्रमातृविषयावगत्यनुत्पत्तौ अनवगत एव प्रमाता स्यादिति चेत् ॥ १०० ॥

शिष्य—किन्तु इस प्रकार प्रमाता को विषय करने वाला ज्ञान सम्भव न होने पर तो प्रमाता अज्ञात ही रहेगा ॥ १०० ॥

न, अवगन्तुः अवगतेः अवगन्तव्यविषयत्वात् । अवगन्तृविषयत्वे च अनवस्था पूर्ववत् स्यात् । अवगतिश्च आत्मनि कूटस्थनित्यात्मज्योतिः अन्यतः अनपेक्षैव सिद्धा अग्न्यादित्याद्युष्णप्रकाशवदिति पूर्वमेव प्रसाधितम् । अवगतेः चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मनि अनित्यत्वे आत्मनः स्वार्थतानुपपत्तिः, कार्यकारणसंघातवत् संहतत्वात् पारार्थ्यं दोषवत्त्वं च अवोचाम । कथम् ? चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मनि अनित्यत्वे स्मृत्यादिव्यवधानात् सान्तरत्वम् । ततश्च तस्य चैतन्यज्योतिषः प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वं आत्मन्येव अभावात् चक्षुरादीनामिव संहतत्वात् पारार्थ्यं स्यात् । यदा च तत् उत्पन्नं आत्मनि विद्यते न तदा आत्मनः स्वार्थत्वम् । तद्भावाभावापेक्षा हि आत्मानात्मनोः स्वार्थत्वपरार्थत्वसिद्धिः । तस्मात् आत्मनः अन्यनिरपेक्षमेव नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वं सिद्धम् ॥ १०१ ॥

गुरु—नहीं, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेयविषयक होता है, यदि उसे ज्ञाता को विषय करने वाला मानें तो पूर्ववत् अनवस्था हो जायगी; और यह तो हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि अग्नि और आदित्यादि के उष्णत्व एवं प्रकाश के समान आत्मा में दूसरे की अपेक्षा से रहित कूटस्थनित्य स्वयंप्रकाश ज्ञान स्वतःसिद्ध है। यदि आत्मा में चैतन्यात्मप्रकाश ज्ञान अनित्य हो तो आत्मा का स्वार्थत्व उपपन्न नहीं हो सकता और ऐसी अवस्था में देहेन्द्रियसंघात

के समान संहत होने के कारण हमने उसका पारार्थ्य तथा दोषयुक्त होना मा[illegible] बतलाया ही है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] यदि आत्मा में चैतन्यवि[illegible] ज्ञान अनित्य है तो उसमें स्मृति आदि के व्यवधान रहने के कारण वह अन्त[illegible] युक्त होगा। तब तो उस चैतन्यरूप ज्ञान का अपनी उत्पत्ति से पूर्व और न[illegible] के पश्चात् आत्मा में ही अभाव होने के कारण चक्षु आदि के समान संहत [illegible] से आत्मा का पारार्थ्य सिद्ध होगा। जब कि वह चैतन्यरूप ज्ञान उत्पन्न हो[illegible] आत्मा में रहता है तो आत्मा का स्वार्थत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि [illegible] संहतत्व के न होने से ही आत्मा के स्वार्थत्व और उसके होने से ही अनात्मा[illegible] परार्थत्व की सिद्धि होती है। अतः आत्मा का दूसरे की अपेक्षा से रहित ही [illegible] चैतन्यप्रकाशस्वरूप होना सिद्ध होता है ॥ १०१ ॥

ननु एवं सति असति प्रमाऽऽश्रयत्वे कथं प्रमातुः प्रमा[illegible] त्वम् ॥ १०२ ॥

शिष्य—ऐसी बात है तो प्रमा का आश्रय न होने पर प्रमाता चेतन[illegible] प्रमातृत्व कैसे सम्भव हो सकता है? ॥ १०२ ॥

उच्यते—प्रमायाः नित्यत्वे अनित्यत्वे च रूपविशेषाभावात् अवगतिर्हि प्रमा। तस्याः स्मृतीच्छादिपूर्विकायाः अनित्या[illegible] कूटस्थनित्याया वा न स्वरूपविशेषो विद्यते। यथा धात्वर्थ[illegible] तिष्ठत्यादेः फलस्य गत्यादिपूर्वकस्य अनित्यस्य अपूर्वस्य नित्य[illegible] वा रूपविशेषो नास्तीति तुल्यो व्यपदेशो दृष्टः—तिष्ठन्ति मनु[illegible] तिष्ठन्ति पर्वताः इत्यादि। तथा नित्यावगतिस्वरूपेऽपि प्रमा[illegible] प्रमातृत्वव्यपदेशो न विरुध्यते फलसामान्यादिति ॥ १०३ ॥

गुरु—बतलाते हैं—प्रमा के नित्य अथवा अनित्य होने में तो कोई स्व[illegible] का भेद है नहीं, क्योंकि ज्ञान का ही नाम प्रमा है। वह स्मृति एवं इच्छा[illegible] पूर्वक अनित्य हो अथवा कूटस्थनित्य हो उसके स्वरूप में कोई अन्तर [illegible] होता। जिस प्रकार 'स्था' आदि धातु के अर्थ [गतिनिवृत्ति आदि] में उ[illegible]

गत्यादिपूर्वक अनित्य होने पर अथवा पूर्वगत्यादि से रहित नित्य होने पर कोई विशेष रूप नहीं होता, इसीसे 'मनुष्य स्थित है' 'पर्वत स्थित है' इस प्रकार समान व्यपदेश ही देखा गया है[1], उसी प्रकार प्रमाता चेतन के नित्यज्ञानस्वरूप होने पर भी उसे प्रमाता कहने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि [नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के ज्ञानों के] फल तो समान ही हैं ॥ १०३ ॥

अत्राह शिष्यः–नित्यावगतिस्वरूपस्य आत्मनः अविक्रियत्वात् कार्यकरणैः असंहत्य तक्षादीनामिव वास्यादिभिः कर्तृत्वं नोपपद्यते, असंहतस्वभावस्य च कार्यकरणोपादाने अनवस्था प्रसज्यते। तक्षादीनां तु कार्यकरणैः नित्यमेव संहतत्वमिति वास्याद्युपादाने नानवस्था स्यादिति ॥ १०४ ॥

इस पर शिष्य बोला — जिस प्रकार बसूले आदि औज़ारों से युक्त हुए बिना बढ़ई आदि का कर्तृत्व सम्भव नहीं है उसी प्रकार नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा का देह और इन्द्रियों से सम्बन्ध हुए बिना कर्ता होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अविकारी है। किन्तु असंहतस्वरूप आत्मा के शरीर और इन्द्रिय ग्रहण करने में अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होता है; बढ़ई आदि का तो देह और इन्द्रियों से सदा ही संहतत्व है, इसलिये उनके बसूले आदि के ग्रहण करने में अनवस्था नहीं हो सकती ॥ १०४ ॥

इह तु असंहतस्वभावस्य करणानुपादाने कर्तृत्वं नोपपद्यत इति करणं उपादेयम्, तदुपादानमपि विक्रियैवेति तत्कर्तृत्वे करणान्तरमुपादेयम्, तदुपादानेऽपि अन्यदिति प्रमातुः स्वातन्त्र्ये अनवस्था अपरिहार्या स्यात् इति। नच क्रियैव आत्मानं कारयति अनिर्व-

---

1 'मनुष्य स्थित है' इस उदाहरण में गत्यादिपूर्वक अनित्य स्थिति दिखायी गयी है तथा 'पर्वत स्थित है' इसमें जिसके पहले गत्यादि नहीं है ऐसी नित्य स्थिति दिखायी गयी है। परन्तु इस प्रकार अर्थ में भेद होने पर भी व्यपदेश (कथन) में कोई भेद नहीं है।

तितायाः स्वरूपाभावात् । अथ अन्यत्र आत्मानं उपेत्य क्रि
कारयतीति चेत् । न, अन्यस्य स्वतःसिद्धत्वाविषयत्वाद्यनुपपत्ते
नहि आत्मनः अन्यत् अचेतनं वस्तु स्वप्रमाणकं दृष्टम् । शब्दादि
सर्वमेव अवगतिफलावसानप्रत्ययप्रमितं सिद्धं स्यात्, अवगति
दात्मनोऽन्यस्य स्यात्, सोऽपि आत्मैव असंहतः स्वार्थः स्यात्
परार्थः । नच देहेन्द्रियविषयाणां स्वार्थतां अवगन्तुं शक्नु
अवगत्यवसानप्रत्ययाऽपेक्षसिद्धिदर्शनात् ॥ १०५ ॥

गुरु—यहाँ करण को ग्रहण किये बिना असंहत स्वभाव आत्मा का क उत्पन्न नहीं होता, इसलिये उसे करण ग्रहण करना ही चाहिये । किन्तु उसे ग्र करना भी विकार ही है, अतः उसके कर्तृत्व के लिये भी उसे दूसरे करण ग्रहण करने की आवश्यकता है तथा उसे ग्रहण करने के लिये एक दूसरे क को ग्रहण करना चाहिये—इस प्रकार प्रमाता का स्वातन्त्र्य (कर्तृत्व[1]) होने में अनवस्था दोष अनिवार्य है । क्रिया ही आत्मा से करा लेती हो— भी बात नहीं है, क्योंकि बिना निष्पन्न हुई क्रिया का कोई स्वरूप नहीं हो यदि कहो कि कोई और वस्तु आत्मा के समीप जाकर उससे कर्म करा ले तो भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा के सिवा किसी अन्य वस्तु का स्वतःसि एवं अविषयत्व आदि सम्भव नहीं है । आत्मा से भिन्न कोई दूसरी जड़ स्वतःसिद्ध नहीं देखी गयी; शब्दादि सम्पूर्ण विषय अवगतिफलावसान प्र से ही प्रमित होकर सिद्ध होते हैं । यदि अवगति आत्मा के सिवा किसी की हो तो वह भी असंहत और स्वार्थ आत्मा ही होगा, परार्थ नहीं हो किन्तु देह या इन्द्रियों की स्वार्थता हम समझ नहीं सकते, क्योंकि वे भी गतिफलावसान प्रत्यय से सिद्ध होनेवाले देखे जाते हैं[2] ॥ १०५ ॥

---

१ 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस अनुशासन के अनुसार यहाँ 'स्वातन्त्र्य' शब्द अर्थ 'कर्तृत्व' किया गया है ।

२ तात्पर्य यह है कि आत्मा का कर्तृत्व पारमार्थिक नहीं है । कर्तृ

ननु देहस्यावगतौ न कश्चित् प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्तरं अपेक्षते ॥ १०६ ॥

शिष्य—किन्तु देह का ज्ञान होने के लिये तो किसी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं [1]होती ? ॥ १०६ ॥

बाढम् । जाग्रति एवं स्यात् । मृतिसुषुप्त्योस्तु देहस्यापि प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव सिद्धिः तथैव इन्द्रियाणाम् । बाह्या एव हि शब्दादयो देहेन्द्रियाकारपरिणता इति प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव हि सिद्धिः । सिद्धिरिति च प्रमाणफलं अवगतिं अवोचाम । सा च अवगतिः कूटस्थता स्वयंसिद्धाऽऽत्मज्योतिःस्वरूपेति च ॥ १०७ ॥

गुरु—ठीक है, जाग्रत् अवस्था में तो ऐसा ही प्रतीत होता है; किन्तु मृत्यु

प्रकार का होता है (१) करण के द्वारा साध्य और (२) सान्निध्यमात्र से निष्पन्न होनेवाला । बढ़ई आदि के समान आत्मा का कर्तृत्व करणोपादानसाध्य नहीं हो सकता, इसलिये परमार्थतः उसके कर्तृत्व का अभाव है । किन्तु लौकिक मायावी अथवा चुम्बक के समान मायाजनित अन्तःकरणरूप विकार के अविवेकवश सन्निधि मात्र से उसका कर्तृत्व प्रतीत होना सम्भव है । यदि कोई कहे कि क्रिया ही उससे कर्म करा लेती है तो क्रिया की निष्पत्ति तो कर्ता के ही द्वारा होती है । अतः जिस प्रकार तैयार होने से पहले घट द्वारा जल लाने का कार्य नहीं हो सकता उसी प्रकार अनिष्पन्न क्रिया किसी प्रकार किसी अन्य के प्रति उपकारिणी नहीं हो सकती ।

आत्मा स्वयंप्रकाश है, उसका ज्ञान होने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । आत्मा से भिन्न जो शब्दादि हैं वे सब आत्मचैतन्य से व्याप्त होने पर ही स्फुरित होते हैं; अतः वे पर प्रकाश्य हैं ।

१ क्योंकि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञान तो स्वतः ही सबको होता है ।

और सुषुप्ति के समय तो देह की सिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा रखनेवाली ही है। इसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि भी प्रमाणाधीन ही है। देह और इन्द्रियों के आकार में परिणत हुए शब्दादि विषय बाह्य ही हैं; अतः उनकी सिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षावाली ही है। प्रमाण की फलभूता अवगति का ही नाम 'सिद्धि' है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं, और वह अवगति कूटस्था, नित्य सिद्धा एवं स्वयंप्रकाशरूपा है॥ १०७॥

अत्राह चोदकः। अवगतिः प्रमाणानां फलं कूटस्थनित्यात्म-ज्योतिःस्वरूपेति च विप्रतिषिद्धम्।

इस पर प्रश्नकर्ता कहता है—अवगति प्रमाणों का फल है और वह कूटस्था, नित्या एवं स्वयं प्रकाशरूपा है—यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है।

इत्युक्तवन्तमाह—न विप्रतिषिद्धम्।

इस प्रकार कहते हुए शिष्य से गुरु कहता है—इसमें विरोध नहीं है।

कथं तर्हि अवगतेः फलत्वम्?

शिष्य—तो फिर वह अवगति का फल किस प्रकार है?

कूटस्थता नित्यापि सती प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्ते लक्ष्यते तादर्थ्यात्। प्रत्यक्षादिप्रत्ययस्य अनित्यत्वे अनित्येव भवति, इति प्रमाणानां फलम् इति उपचर्यते॥ १०८॥

गुरु—कूटस्था और नित्या होने पर भी वह अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रत्यक्षादि ज्ञान के फलरूप से लक्षित होती है और प्रत्यक्षादि ज्ञान अनित्य होने के कारण वह भी अनित्या-सी हो जाती है। इसी से वह उपचार से प्रमाणों का फल कही जाती है॥ १०८॥

यद्येवं भगवन्! कूटस्थनित्यावगतिः आत्मज्योतिःस्वरूपैव स्वयंसिद्धा, आत्मनि प्रमाणनिरपेक्षत्वात्। ततोऽन्यद् अचेतनं संहत्यकारित्वात् परार्थम्। येन च सुखदुःखमोहप्रत्ययावगति

पाराथ्यं तेनैव स्वरूपेण अनात्मनः अस्तित्वं नान्येन रूपान्तरेण, अतो नास्तित्वमेव परमार्थतः। यथा हि लोके रज्जुसर्पमरीच्युदकादीनां तदवगतिव्यतिरेकेण अभावो दृष्टः; एवं जाग्रत्स्वप्नद्वैतभावस्यापि तदवगतिव्यतिरेकेण अभावो युक्तः। एवमेव परमार्थतः भगवन्, अवगतेः आत्मज्योतिषः नैरन्तर्यभावात् कूटस्थनित्यता अद्वैतभावश्च सर्वप्रत्ययभेदेषु अव्यभिचारात् प्रत्ययभेदाश्च अगवतिं व्यभिचरन्ति। यथा स्वप्ने नीलपीताद्याकारभेदरूपाः प्रत्ययाः तदवगतिं व्यभिचरन्तः परमार्थतो न सन्तीत्युच्यन्ते एवं जाग्रत्यपि नीलपीतादिप्रत्ययभेदाः तामेवावगतिं व्यभिचरन्तः असत्यरूपाः भवितुमर्हन्ति। तस्याश्च अवगतेः अन्यः अवगन्ता नास्तीति न स्वेन स्वरूपेण स्वयं उपादातुं हातुं वा शक्यते, अन्यस्य च अभावात् ॥ १०६ ॥

शिष्य—भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थनित्य ज्ञान स्वयंप्रकाश स्वरूप और स्वयंसिद्ध है, क्योंकि आत्मा में किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, इससे जो भिन्न है वह अचेतन और मिलकर कार्य करनेवाला होने के कारण परार्थ है; और जिस सुख-दुःख एवं मोह (सत्त्वरजस्तमो) रूप प्रत्ययावगति रूप से अनात्म वस्तु की परार्थता है उसी स्वरूप से उसकी सत्ता भी है[1]; किसी अन्यरूप से नहीं। अतः परमार्थतः उसकी सत्ता ही नहीं है। जिस प्रकार लोक में रज्जुसर्प एवं मरीचिका जलादिका उनकी प्रतीति के अतिरिक्त अभाव ही देखा गया है उसी प्रकार हे भगवन्! जाग्रत् और स्वप्नावस्था के द्वैत का भी उसकी प्रतीति से अतिरिक्त परमार्थतः अभाव ही युक्तियुक्त है। किन्तु स्वयंप्रकाश अवगति निरन्तर वर्तमान रहती है, इसलिये वह कूटस्थ नित्य और अद्वैत है; क्योंकि समस्त प्रत्ययभेदों में उसका अव्यभिचार है, जब कि प्रत्ययभेदों का

1 अर्थात् यह त्रिगुणात्मिका अवगति स्वरूप ही है।

अपनी अवगति में व्यभिचार रहता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में नीलपीत कर भेदरूप प्रत्ययों का [परस्पर] अपनी अवगति में व्यभिचार होने के का 'वे परमार्थतः नहीं हैं' ऐसा उनके विषय में कहा जाता है उसी प्रकार जा वस्था में भी नीलपीतादि प्रत्ययभेदों का उस अवगति में व्यभिचार हो कारण वे असत्यरूप ही होने चाहिये[1]। तथा उस अवगति का कोई ज्ञाता नहीं है, इसलिये अन्य वस्तु का अभाव होने के कारण अपने स्व उसका न तो ग्रहण ही किया जा सकता है और न त्याग ही ॥१०९॥

तथैवेति। एषा अविद्या यन्निमित्तः संसारो जाग्रत्स्वप्नलक्ष तस्या अविद्यायाः विद्या निवर्तिका इत्येवं त्वं अभयं प्राप्तो नातः परं जाग्रत्स्वप्नदुःखमनुभविष्यसि संसारदुःखान्मु सीति ॥ ११० ॥

गुरु—ऐसी ही बात है। जिसके कारण जाग्रत्-स्वप्नरूप संसार की होती है वह तो अज्ञान है। उस अज्ञान की निवृत्ति करनेवाला ज्ञान है

१ जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें देखा जाता है कि नीलाकार ज्ञान में पी ज्ञान नहीं रहता तथा पीताकार ज्ञान में नीलाकार ज्ञान नहीं रहता; किन्तु उन सभी में रहता है, केवल उसकी उपाधि का व्यभिचार होता है—उसी जाग्रत् ज्ञानों में भी है। अतः परस्पर व्यभिचारी होने के कारण जिस प्र स्वप्न में मिथ्या हैं उसी प्रकार जाग्रत् में भी हैं। यही नहीं सम्पूर्ण स्वप्ना का जाग्रत् अवस्था में और जाग्रत् अवस्था का स्वप्नावस्था में भी व्यभिचा इससे भी उनका मिथ्यात्व सिद्ध होता है; किन्तु उनके साक्षी का कि अवस्था में व्यभिचार नहीं होता; अतः परमार्थतः वही कूटस्थ नित्य सत् क्योंकि परमार्थ सत्य वही वस्तु हो सकती है जिसका किसी काल में भी न हो। श्री भगवान् ने भी गीता में कहा है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥' (२।१६)

अतः अब तूने अभय प्राप्त कर लिया है। अब से आगे तू जाग्रत्-स्वप्नजनित दुःख का अनुभव नहीं करेगा, तू संसाररूप दुःख से मुक्त हो गया है ॥११०॥

ओमिति ॥ १११ ॥

शिष्य—सत्य है ॥ १११ ॥

परिसंख्यानप्रकरण ॥ ३ ॥

मुमुक्षूणां उपात्तपुण्यापुण्यक्षपणपराणां अपूर्वानुपचयार्थिनो परिसंख्यानमिदमुच्यते। अविद्याहेतवो दोषाः वाङ्मनःकायप्रवृत्तिहेतवः—प्रवृत्तश्च इष्टानिष्टमिश्रफलानि कर्माणि उपचीयन्ते इति तन्मोक्षार्थम् ॥ ११२ ॥

जो अपने सञ्चित पुण्य-पाप का क्षय करने में तत्पर हैं तथा जिन्हें [क्रियमाणकर्मजनित धर्माधर्मरूप] अपूर्व की वासना नहीं है उन मुमुक्षु पुरुषों के लिये यह परिसंख्यान (ज्ञानाभ्यास) कहा जाता है। अविद्याजनित [राग-द्वेषादि] दोष वाणी मन और शरीर की प्रवृत्ति के हेतु हैं और प्रवृत्ति से इष्ट अनिष्ट एवं मिश्र फलवाले कर्मों का सञ्चय होता है, अतः उनकी निवृत्ति के लिये [यह परिसंख्यान कहा जाता है][1] ॥ ११२ ॥

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां विषयाणां श्रोत्रादिग्राह्यत्वात् स्वात्मनि परेषु वा विज्ञानाभावः, तेषामेव परिणतानां यथा लोष्टादीनाम्। श्रोत्रादिद्वारैश्च ज्ञायन्ते, येन च ज्ञायन्ते सः ज्ञातृत्वात् अतज्जातीयः, ते हि शब्दादयः अन्योन्यसंसर्गित्वात् जन्म-

१ इससे पहले प्रकरण में तत्त्वज्ञान का निरूपण किया गया है। जीव के परम कल्याण का हेतु वही है। जिसे उसकी प्राप्ति हो जाती है उसके लिये विधिरूप से कुछ भी कर्तव्य नहीं है। परन्तु भेददर्शन की दृढवासना के कारण जिनकी उसमें स्थिति नहीं होती उनके ज्ञान की दृढता के लिये यह परिसंख्यान (अनात्म-वस्तुओं का निषेध) कहा जाता है।

वृद्धिविपरिणामापक्षयनाशसंयोगवियोगाविर्भावतिरोभावविकारवि-कारिक्षेत्रबीजाद्यनेकधर्माणः सामान्येन च सुखदुःखाद्यनेककर्माणः तद्विज्ञातृत्वादेव तद्विज्ञाता सर्वशब्दादिधर्मविलक्षणः ॥ ११३ ॥

शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये विषय श्रोत्रादि इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, अ अपने द्वारा अथवा [घटादि] किसी अन्य पदार्थ द्वारा उनका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जिस प्रकार मिट्टी के ढेले आदि को कोई ज्ञान नहीं होता उ प्रकार [शरीरादि रूप में] परिणत हुए उन शब्दादि को भी कोई ज्ञान न होता। वे श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा ही जाने जाते हैं। और जिसके द्वारा जा जाते हैं वह ज्ञाता होने के कारण उनसे विजातीय है। वे शब्दादि एक-दूस से मिल जाने वाले होने के कारण जन्म, वृद्धि, विपरिणाम, क्षय, नाश, संयो वियोग, आविर्भाव, तिरोभाव, विकार, विकारी, क्षेत्र और बीज आदि अने धर्मों वाले तथा सामान्यरूप से सुख-दुःखादि अनेकों कर्मोंवाले हैं तथा उन विज्ञातृत्व के कारण ही उनका ज्ञाता [आत्मा] शब्दादि सभी के धर्मों विलक्षण है ॥ ११३ ॥

तत्र शब्दादिभिः उपलभ्यमानैः पीड्यमानो विद्वान् एवं प संचक्षीत ॥ ११४ ॥

ऐसी अवस्था में अपने को उपलब्ध होने वाले शब्दादि से पीड़ित हो हुआ विद्वान् इस प्रकार ज्ञानाभ्यास करे ॥ ११४ ॥

शब्दस्तु ध्वनिसामान्यमात्रेण विशेषधर्मैर्वा षड्जादिभिः प्रि स्तुत्यादिभिः इष्टैः अनिष्टैश्च असत्यबीभत्सपरिभवाऽऽक्रोशादि-वचनैः मां दृक्स्वभावं असंसर्गिणं अविक्रियं अचलं अनिध अभयं अत्यन्तसूक्ष्मं अविषयं गोचरीकृत्य स्प्रष्टुं नैवार्हति असंस गित्वादेव माम्। अतएव न शब्दनिमित्ता हानिः वृद्धिर्वा। अ मां किं करिष्यति स्तुतिनिन्दादिप्रियाप्रियत्वादिलक्षणः शब्दः अविवेकिनं हि शब्दं आत्मत्वेन गतं प्रियः शब्दो वर्धयेत्, अप्रिय

पयेत्, अविवेकित्वात्; नतु मम विवेकिनो वालाग्रमात्रमपि कर्तुं-
त्सहत इति। एवमेव स्पर्शसामान्येन तद्विशेषैश्च शीतोष्णमृदु-
कर्शादि–ज्वरोदरशूलादिलक्षणैश्च अप्रियैः प्रियैश्च कैश्चित् शरीर-
मवायिभिः बाह्यागन्तुकनिमित्तैश्च न मम काचित् विक्रिया
द्धिहानिलक्षणा अस्पर्शत्वात् क्रियते व्योम्न इव मुष्टिघातादिभिः।
था रूपसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः स्त्रीव्यञ्जनादिलक्षणैः
रूपत्वात् न मम काचित् हानिः वृद्धिर्वा क्रियते। तथा रस-
मान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायैः
ढबुद्धिभिः परिगृहीतैः अरसात्मकस्य मम न काचित् हानिः
द्धिर्वा क्रियते। तथा गन्धसामान्येन तद्विशेषैः प्रियाप्रियैः पुष्पा-
नुलेपनादिलक्षणैः अगन्धात्मकस्य न मम काचित् हानिः
द्धिर्वा क्रियते–"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यम-
न्धवच्च यत्" (क० उ० ३।१५) इति श्रुतेः ॥ ११५ ॥

ध्वनिरूप सामान्य धर्म के द्वारा तथा षड्जादि प्रिय, स्तुति आदि इष्ट एवं त्य बीभत्स अपमान सूचक और निन्दात्मक वचनरूप अनिष्ट विशेष धर्मों के र मुक्त दृक्स्वरूप, संसर्गशून्य, अविकारी, अविचल, अविनाशी, अभय, न्त सूक्ष्म और अविषय को अपना विषय बनाकर शब्द स्पर्श भी नहीं कर कता, क्योंकि मैं तो संसर्गशून्य ही हूँ। अतः शब्द के कारण मेरी कोई हानि लाभ नहीं है। इसलिए स्तुति-निन्दादि प्रियाप्रियत्वादि गुणवाला शब्द मेरा करेगा? जो अविवेकी है उसे ही शब्द आत्मरूप से प्राप्त होता है; अतः नी होने के कारण उसे प्रियशब्द बढ़ा देता है और अप्रिय गिरा देता है; विवेकी का तो यह बालभर भी हानि-लाभ नहीं कर सकता। इसी प्रकार जैसे आदि चलाने से आकाश की कोई क्षति नहीं की जा सकती उसी प्रकार न्यस्पर्श से अथवा शीत, उष्ण, मृदु एवं कठोर आदि विशेष तथा ज्वर

उदरशूलादि रूप अप्रिय और बाह्य आगन्तुक निमित्तों से होनेवाले शरीरस्थ किन्हीं प्रिय स्पर्शों से भी मेरा किसी प्रकार का हानि-लाभरूप विकार नहीं सकता। इसी तरह सामान्य रूप से तथा उसके प्रिय एवं अप्रिय स्त्री-व्यञ्जन विशेष भेदों द्वारा भी मेरा कोई हानि या लाभ नहीं किया जा सकता, मैं रूपरहित हूँ। तथा सामान्य रस से अथवा मूढमति पुरुषों द्वारा ग्रहण जानेवाले उसके मीठे, खट्टे, खारे, कड़वे, चरपरे और कसैले आदि प्रिय अप्रियरूप विशेष भेदों से भी मुझ अरसात्मक का कोई हानि या लाभ नहीं है ऐसे ही सामान्य गन्ध से तथा पुष्प एवं अनुलेपनादि रूप उसके प्रिय अप्रिय विशेष रूपों से मुझ गन्धहीन का कोई हानि-लाभ नहीं होता, श्रुति कहती है "जो आत्मा शब्द रहित, स्पर्श रहित, अविनाशी, रसहीन, और गन्धरहित है।" ॥ ११५ ॥

किंच य एव बाह्याः शब्दादयः ते शरीराकारेण संस्थि तद्ग्राहकैश्च श्रोत्राद्याकारैः अन्तःकरणद्वयतद्विषयाकारेण च न्यसंसर्गित्वात् संहतत्वाच्च सर्वक्रियासु। तत्र एवं सति मम न कश्चित् शत्रुः मित्रं उदासीनो वा अस्ति, तत्र यदि मिथ्याज्ञानाभिमानेन प्रियं अप्रियं वा प्रयुयुक्षेत क्रियाफल तन्मृषैव प्रयुयुक्षते सः। तस्य अविषयत्वान्मम—"अव्यक्तो चिन्त्योऽयं" (गी० २।२५) इति स्मृतेः। तथा सर्वेषां नामपि भूतानां अविकार्यः, अविषयत्वात् "अच्छेद्योऽयमदाह्यो (गी० २।२४) इति स्मृतेः। यापि शरीरेन्द्रियसंस्थानमा लक्ष्य मद्भक्तानां विपरीतानां च प्रियाप्रियादिप्रयुयुक्षा धर्माधर्मादिप्राप्तिः सा तेषामेव; नतु मयि अजरे अमृते अभये कृताकृते तपतः" (बृ० उ० ४।४।२२) "न कर्मणा वर्धते कनीयान्" (बृ० उ० ४।४।२३) "स बाह्याभ्यन्तरो

(मु० उ० २।१।२) "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० ५।११) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः अनात्मवस्तुनश्च असत्त्वात् इति परमो हेतुः। आत्मनश्च अद्वयत्वविषयाणि द्वयस्यासत्त्वात् यानि सर्वाणि उपनिषद्वाक्यानि विस्तरशः समीक्षितव्यानि समीक्षितव्यानीति ॥११६॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ उपदेशसाहस्र्यां गद्यप्रबन्धः समाप्तः॥

अपितु जो बाह्य शब्दादि शरीराकार में तथा उन शब्दादि को ग्रहण करनेवाले श्रोत्रादि के रूप में स्थित हैं वे ही एक दूसरे से संश्लिष्ट होने के कारण [मन और बुद्धिरूप] दो अन्तःकरण और उनके विषय रूप से भी परिणत हो गये हैं, क्योंकि वे सभी क्रियाओं में परस्पर मिले रहते हैं। तब ऐसी स्थिति में मुझ विद्वान् का कोई भी शत्रु, मित्र या उदासीन नहीं है। अतः यदि मिथ्या ज्ञानाभिमान के कारण कोई पुरुष किसी प्रकार के क्रियाफलरूप प्रिय या अप्रिय का प्रयोग करना चाहता है तो उसकी यह प्रयोग की इच्छा मिथ्या ही है, क्योंकि "यह अव्यक्त और अचिन्त्य है" इस स्मृति के अनुसार मैं तो उसका विषय ही नहीं हूँ। इसी प्रकार "यह अच्छेद्य और अदाह्य है" इस स्मृति के अनुसार समस्त भूतों का अविषय होने के कारण मैं अविकारी हूँ। इसी प्रकार इस शरीर और इन्द्रियसंस्थानमात्र को लक्ष्य में रखकर जो मेरे भक्तों और अभक्तों को इसका प्रिय अथवा अप्रिय साधन करने की इच्छा होती है तथा उसके कारण उन्हें जो पुण्य एवं पाप की प्राप्ति होती है वह भी उन्हें ही है; मुझ अजर अमर एवं अभयरूप आत्मा में उसकी सत्ता नहीं है, जैसा कि "इसे पाप और पुण्य नहीं सताते", "यह कर्म से न बढ़ता है न घटता है", "यह बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है", "यह संसार दुःख से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उससे बाहर है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से सिद्ध होता है, कारण अनात्मवस्तु की सत्ता नहीं है—यही इसमें प्रधान हेतु है। द्वैत की सत्ता नहीं है। अतः आत्मा के अद्वयत्व विषयक जितने भी उपनिषद्वाक्य हैं उन सभी का विस्तार पूर्वक आलोचना करनी चाहिये, आलोचना करनी चाहिये[1]॥११६॥

[1] यह द्विरुक्ति गद्य प्रबन्ध की समाप्ति सूचित करने के लिये है।

[पद्यबन्ध द्वितीयभाग]

उपोद्घातप्रकरण ॥ १ ॥

चैतन्यं सर्वगं सर्वं सर्वभूतगुहाशयम् ।
यत्सर्वविषयातीतं तस्मै सर्वविदे नमः ॥ १ ॥

जो चैतन्य, सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप, सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में और समस्त विषयों से अतीत है उस सर्वज्ञ ब्रह्म को नमस्कार है[1] ॥ १ ॥

समापय्य क्रियाः सर्वा दाराग्न्याधानपूर्विकाः ।
ब्रह्मविद्यामथेदानीं वक्तुं वेदः प्रचक्रमे ॥ २ ॥

स्त्री परिग्रह और अग्न्याधानपूर्वक सब प्रकार के कर्म समाप्त कर अब पश्चात् वेद ब्रह्मविद्या का निरूपण करना आरम्भ करता है ॥ २ ॥

कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये ।
ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव ततः क्रियाः ॥३॥

कर्म देह से सम्बन्ध कराने के लिये हैं[2] और देह का सम्बन्ध हो

---

१ यहाँ चैतन्यादि तीन विशेषण तो 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पद के लिये समान हैं, 'सर्वभूतगुहाशय' इस पद से बुद्ध्यादि के साक्षी त्वं-पद का उल्लेख किया गया है तथा 'सर्ववित्' पद से तत्पदवाच्य और 'सर्वविषया...' पद से तत्पदलक्ष्य ब्रह्म कहा गया है । 'यत्' और 'तत्' पद का सामानाधिकरण्य होने के कारण इन सब विशेषणों की एक ही पदार्थ में वृत्ति होने से इसमें तात्पर्यतः तत् और त्वं पदार्थों की एकता की गयी है । इस प्रकार मङ्गल के व्याज से इसका प्रकरणत्व द्योतित करने के लिये इसके द्वारा वेदान्त के अनुबन्धचतुष्टय भी सूचित किये गये हैं ।

२ क्योंकि जाति आयु और भोग—ये कर्म के फल हैं और इनका सम्बन्ध के बिना होना सम्भव नहीं है ।

निश्चय ही प्रिय एवं अप्रिय की प्राप्ति होती है; उससे राग-द्वेष होते हैं और उनके कारण फिर क्रिया होती है ॥ ३ ॥

धर्माधर्मौ ततोऽज्ञस्य देहयोगस्तथा पुनः ।
एवं नित्यप्रवृत्तोऽयं संसारश्चक्रवद् भृशम् ॥ ४ ॥

उसके कारण अज्ञानी पुरुष को धर्माधर्म की प्राप्ति होती है तथा उनसे पुनः देह का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार यह संसार चक्र के समान निरन्तर घूम रहा है ॥ ४ ॥

अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते ।
ब्रह्मविद्यात आरब्धा ततो निःश्रेयसं भवेत् ॥ ५ ॥

इसका मूल अज्ञान है, अतः उसकी निवृत्ति सभी को अभीष्ट है। इसीलिये ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जाता है, क्योंकि उसी से परम कल्याण हो सकता है ॥ ५ ॥

विद्यैवाज्ञानहानाय न कर्माऽप्रतिकूलतः ।
नाज्ञानस्याप्रहाणे हि रागद्वेषक्षयो भवेत् ॥ ६ ॥

अज्ञान की निवृत्ति में ज्ञान ही समर्थ है, कर्म नहीं, क्योंकि उसका उससे (अज्ञान से) विरोध नहीं है। और अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना राग-द्वेष का भी अभाव नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

रागद्वेषक्षयाभावे कर्म दोषोद्भवं ध्रुवम् ।
तस्मान्निःश्रेयसार्थाय विद्यैवात्र विधीयते ॥ ७ ॥

तथा राग-द्वेष का क्षय न होने पर इन दोषों के कारण होने वाला कर्म फिर भी निश्चित है। अतः आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति के लिये यहाँ ज्ञान का ही विधान किया जाता है ॥ ७ ॥

ननु कर्म तथा नित्यं कर्तव्यं जीवने सति ।
विद्यायाः सहकारित्वं मोक्षं प्रति हि तद् व्रजेत् ॥८॥

[इस पर ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी कहता है—] अच्छा तो जब तक जीवन है तब तक ज्ञान की तरह कर्म भी सर्वदा करते रहना चाहिये; क्योंकि [यद्यपि स्वतन्त्ररूप से कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है, तो भी] वह मोक्ष साधन में ज्ञान का सहकारी तो हो ही सकता है ॥ ८ ॥

यथा विद्या तथा कर्म चोदितत्वाविशेषतः।
प्रत्यवायस्मृतेश्चैव कार्यं कर्म मुमुक्षुभिः ॥ ९ ॥

कर्म और ज्ञान के लिये शास्त्र में समान रूप से विधि है[1]; अतः ज्ञान के समान कर्म भी करना ही चाहिये। इसके सिवा कर्म न करने में स्मृति प्रत्यवाय भी बतलाती है[2], इसलिये भी मुमुक्षुओं के लिये कर्म अवश्य कर्त्तव्य है ॥९॥

ननु ध्रुवफला विद्या नान्यत्किंचिदपेक्षते।
नाग्निष्टोमो यथैवान्यद् ध्रुवकार्योऽप्यपेक्षते ॥ १० ॥
तथा ध्रुवफला विद्या कर्म नित्यमपेक्षते।
इत्येवं केचिदिच्छन्ति न कर्म प्रतिकूलतः ॥११॥

[सिद्धान्ती—] किन्तु विद्या का फल तो निश्चित है, इसलिये उसे [अपने फल की प्राप्ति कराने के लिये कर्मादि] किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है; किन्तु किन्हीं किन्हीं का मत है कि नहीं, जिस प्रकार निश्चित फलवान् होने पर भी अग्निष्टोमयाग उद्गीथ-शस्त्रप्रभृति अन्य कर्मों की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार ज्ञान निश्चित फलवान् होने पर भी नित्यकर्म की अपेक्षा रखता ही है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म ज्ञान का विरोधी है ॥ १०—११ ॥

१ इस के लिये समुच्चयवादी इस श्रुति का प्रमाण देते हैं—
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ईशा० ११)

२ इस विषय में यह स्मृति प्रसिद्ध है—
अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसंजंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥

विद्यायाः प्रतिकूलं हि कर्म स्यात्साभिमानतः।
निर्विकारात्मबुद्धिश्च विद्येतीह प्रकीर्तिता ॥ १२ ॥

कर्म [ब्राह्मणत्वादि के] अभिमानपूर्वक होता है, इसलिये वह ज्ञान का विरोधी है। और यहाँ (वेदान्तशास्त्र में) निर्विकार (कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि शून्य) आत्मा में बुद्धि की वृत्ति होने को ही ज्ञान कहा है ॥ १२ ॥

अहं कर्ता ममेदं स्यादिति कर्म प्रवर्तते।
वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीनो भवेद्विधिः ॥१३॥

मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है—ऐसी बुद्धि होने पर कर्म प्रवृत्त होता है। इसके सिवा ज्ञान वस्तु के अधीन है और कर्मविधि कर्ता के अधीन है ॥ १३ ॥

कारकाण्युपमृद्नाति विद्या बुद्धिमिवोपरे।
इति तत्सत्यमादाय कर्म कर्तुं व्यवस्यति ॥१४॥

जिस प्रकार मरुस्थल में हुई जलबुद्धि को मरुस्थल का ज्ञान निवृत्त कर देता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान कर्तृत्वादिकारक बुद्धि को निवृत्त कर देता है। फिर उन्हें सत्य मानकर ज्ञानी पुरुष कर्म करने में क्यों प्रवृत्त होगा ? ॥ १४ ॥

विरुद्धत्वादतः शक्यं कर्म कर्तुं न विद्यया।
सहैव विदुषा तस्मात्कर्म हेयं मुमुक्षुणा ॥ १५ ॥

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने के कारण विद्वान् के द्वारा विद्या के साथ कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता, अतः मुमुक्षु के लिये कर्म त्याज्य ही हैं ॥ १५ ॥

देहाद्यैरविशेषेण देहिनो ग्रहणं निजम्।
प्राणिनां तदविद्योत्थं तावत्कर्मविधिर्भवेत् ॥ १६ ॥

प्राणियों को देहादि के साथ अपने आत्मा का अभिन्नरूप से ग्रहण होता है; यह अविद्याजनित है। अतः [जब तक यह बना हुआ है] तब तक उसके लिये कर्म की भी विधि है ॥ १६ ॥

नेतिनेतीति देहादीनपोह्यात्मावशेषितः ।
अविशेषात्मबोधार्थं तेनाविद्या निवर्तिता ॥ १७ ॥

निर्विशेष आत्मा के बोध के लिये 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति के द्वारा दे का बाधकर शुद्ध आत्मा ही अवशेष रखा जाता है; उस आत्मज्ञान से अ की निवृत्ति हो जाती है ॥ १७ ॥

निवृत्ता सा कथं भूयः प्रसूयेत प्रमाणतः ।
असत्येवाविशेषेऽपि प्रत्यगात्मनि केवले ॥ १८ ॥

इस प्रकार प्रमाणद्वारा निवृत्त कर दी जाने पर वह फिर किस प्रकार उ हो सकती है ? वह तो निर्विशेष विशुद्ध आत्मा में मिथ्या ही है ॥ १८ ॥

न चेद्भूयः प्रसूयेत कर्ता भोक्तेति धीः कथम् ।
सदस्मीति च विज्ञाने तस्माद्विद्याऽसहायिका ॥१९॥

और यदि फिर वह उत्पन्न नहीं होती तो 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' ऐसी किस प्रकार हो सकती है ? अतः 'मैं सत् हूँ' ऐसा ज्ञान होने में विद्या को की सहायता की आवश्यकता नहीं है ॥ १९ ॥

अत्यरेचयदित्युक्तो न्यासः श्रुत्यात एव हि ।
कर्मभ्यो मानसान्तेभ्य एतावदिति वाजिनाम् ॥२०॥
अमृतत्वं श्रुतं यस्मात्त्याज्यं कर्म मुमुक्षुभिः ।
अग्निष्टोमवदित्युक्तं तत्रेदमभिधीयते ॥ २१ ॥

इसी से श्रुति ने सत्य से लेकर मानसपर्यन्त सभी कर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट है—ऐसा कहा है[1]; तथा 'एतावद्वरे खल्वमृतत्वम्' (४।५।१५ बृहदारण्यक श्रुति ने भी अमृतत्व का प्रतिपादन किया है। अतः मुमुक्षु कर्म का त्याग ही करना चाहिये और तुमने जो अग्निष्टोमयाग के समान कर्म की अपेक्षा बतलायी सो उसके विषय में अब कहा जाता है ॥२०-२१॥

१ देखिये नारायणोपनिषद् मन्त्र ७८ ।

नैककारकसाध्यत्वात्फलान्यत्वाच्च कर्मणः ।
विद्या तद्विपरीतातो दृष्टान्तो विषमो भवेत् ॥२२॥

कर्म अनेक कारकों द्वारा निष्पन्न होने वाला है तथा उसका फल भी भिन्न है, अतः ज्ञान उससे विरुद्ध स्वभाववाला है; इसलिये वह दृष्टान्त ठीक नहीं है ॥ २२ ॥

कृष्यादिवत्फलार्थत्वादन्यकर्मोपबृंहणम् ।
अग्निष्टोमस्त्वपेक्षेत विद्यान्यत्किमपेक्षते ॥ २३ ॥

अग्निष्टोम सातिशय फल के लिये है. इसलिये कृषि आदि के समान उसे अन्य कर्मों की सहायता की आवश्यकता है। किन्तु ज्ञान को और किस वस्तु की अपेक्षा हो सकती है ? ॥ २३ ॥

प्रत्यवायस्तु तस्यैव यस्याहंकार इष्यते ।
अहंकारफलार्थित्वे विद्येते नात्मवेदिनः ॥ २४ ॥

तथा प्रत्यवाय भी उसी को हो सकता है जिसे अहंकार हो, आत्मज्ञानी में तो अहंकार और फल की इच्छा दोनों ही नहीं रहते ॥ २४ ॥

तस्मादज्ञानहानाय संसारविनिवृत्तये ।
ब्रह्मविद्याविधानाय प्रारब्धोपनिषत्त्वियम् ॥ २५ ॥

अतः अज्ञान की निवृत्ति, संसार का बाध और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये यह उपनिषद्[1] आरम्भ की जाती है ॥ २५ ॥

सदेरुपनिपूर्वस्य क्विपि चोपनिषद्भवेत् ।
मन्दीकरणभावाच्च गर्भादेः शातनात्तथा ॥ २६ ॥

उप-नि-उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु के क्विप् करने पर 'उपनिषद्' शब्द

[1] यहाँ लक्षणा से वेदान्त ग्रन्थ के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सिद्ध होता है। तथा गर्भादि को[1] शिथिल करने और उनका उच्छेद करने के कारण भी इसे उपनिषद् कहते हैं[2] ॥ २६ ॥

आत्मज्ञानोत्पत्तिप्रकरण[3] ॥ २ ॥

प्रतिषेद्धुमशक्यत्वान्नेतिनेतीति शेषितम्।
इदं नाहमिदं नाहमित्यद्धा प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

'नेति-नेति' (यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है) इस प्रकार अनात्म देहादि का प्रतिषेध करते-करते आत्मा प्रतिषेध किये जाने के अयोग्य होने के कारण बच रहता है। 'यह मैं नहीं हूँ, यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार प्रतिषेध करते-करते ही उसकी साक्षात् उपलब्धि होती है ॥ १ ॥

अहंधीरिदमात्मोत्था वाचारम्भणगोचरा।
निषिद्धात्मोद्भवत्वात्सा न पुनर्मानतां व्रजेत् ॥२॥

अहंबुद्धि इदमात्मा अर्थात् अन्तःकरणादि अनात्मवस्तु से उत्पन्न हुई है, अतः वह वाणी से आरम्भ होने वाले विकार के अन्तर्गत है। वह निषिद्ध किये जाने वाले आत्मा (देहादि) से उत्पन्न होने वाली होने के कारण फिर प्रमाणता को प्राप्त नहीं होती ॥ २ ॥

पूर्वबुद्धिमबाधित्वा नोत्तरा जायते मतिः।
दृशिरेकः स्वयं सिद्धः फलत्वात्स न बाध्यते ॥ ३ ॥

[जिस प्रकार शुक्ति के अज्ञान से उत्पन्न हुई रजत-बुद्धि का बाध किये बिना रज्जु का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार आत्मा के अज्ञानवश 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' इत्यादि रूप से] पहले उत्पन्न हुई बुद्धि का बाध किये बिना उ

---

१ गर्भ, जन्म, जरा मरणादि।

२ क्योंकि 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इस धातु पाठ के अनुसार 'सद्' धातु का प्रयोग छेदन, गति या शिथिल करना इन अर्थों में होता है।

३ कहीं-कहीं इसका नाम 'प्रतिषेधप्रकरण' भी है।

कालीना आत्मबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती। किन्तु साक्षी चेतन एक और स्वयं सिद्ध है, वह फलरूप होने के कारण बाधित नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

इदं वनमतिक्रम्य शोकमोहादिदूषितम्।
वनाद्गान्धारको यद्वत्स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

जिस प्रकार गान्धारदेशीय पुरुष वन से अपने देश में पहुँच गया था[1] उसी प्रकार शोकमोहादि दोषों से दूषित इस [देहादि रूप] वन को पारकर मुमुक्षुपुरुष अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

---

१ किसी गान्धारदेशीय पुरुष को, रास्ते में उसकी आखें बाँधकर चोर पकड़ लाये और उसका सारा धन लूटकर एक घोर वन में किसी वृक्ष से बाँध दिया। वह उस बन्धन से छुटकारा पाने के लिये चिल्ला रहा था। इतने ही में उधर से कोई महात्मा निकले। उसकी दुर्दशा देखकर उन्होंने उसे पेड़ से छुड़ाकर उसकी आँखें खोल दीं और उसे गान्धारदेश का मार्ग बतला दिया। तब वह मार्ग में लोगों से पूछते-पूछते उसी मार्ग से स्वदेश में पहुँच गया। इसी प्रकार रागद्वेषादि चोरों द्वारा अपने आत्मस्वरूप स्वदेश से पकड़कर लाया हुआ यह जीव संसाररूपी वन में नाना प्रकार के मोह-बन्धनों से बँधकर उनसे छुटकारा पाने के लिए तड़प रहा है। जब उसपर किन्हीं कृपालु महापुरुष की दृष्टि पड़ जाती है तो वे उसे उस बन्धन से छुड़ा देते हैं और उसकी विवेकरूप आँखें खोलकर उसे आत्मोपलब्धि का मार्ग बतला देते हैं। तब उनके आदेशानुसार उसी मार्ग से चलकर वह एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थ का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद की निम्नलिखित दो श्रुतियों में है—

"यथा सोम्य पुरुषं गान्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

"तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

(छां० उ० ६।१४)

ईश्वरात्म प्रकरण ॥ ३ ॥

ईश्वरश्चेदनात्मा स्यान्नासावस्मीति धारयेत् ।
आत्मा चेदीश्वरोऽस्मीति विद्या सान्यनिवर्तिका ॥१॥

यदि ईश्वर अनात्मा होता तो जिज्ञासु को 'यह ईश्वर (ब्रह्म) मैं हूँ' ऐसा बोध नहीं हो सकता था। और यदि उसे ऐसा बोध हो जाय कि 'मैं ईश्वर हूँ' तो इस प्रकार का बोध अपने से भिन्न [भेद ज्ञान] की निवृत्ति करने वाला है ॥ १ ॥

आत्मनोऽन्यस्य चेद्धर्मा अस्थूलत्वादयो मताः ।
अज्ञेयत्वेऽस्य किं तैः स्यादात्मत्वे ह्यन्यधीह्रुतिः ॥२॥

यदि अस्थूलत्वादि धर्म आत्मा से भिन्न ईश्वर के हैं, तो ऐसा अनात्मा ईश्वर अज्ञेय होने के कारण उन धर्मों द्वारा इस जिज्ञासु का क्या लाभ हो सकता है ? और यदि उसका आत्मस्वरूप से बोध हो जाता है तो उससे स्थूलत्व-कृशत्वादि अनात्मधर्मसम्बन्धिनी बुद्धि निवृत्त हो जाती है ॥ २ ॥

मिथ्याध्यासनिषेधार्थं ततोऽस्थूलादि गृह्यताम् ।
परत्र चेन्निषेधार्थं शून्यतावर्णनं हि तत् ॥ ३ ॥

अतः 'अस्थूलमनणु' आदि वाक्य को आत्मा में हुए स्थूलत्वादि के मिथ्या अध्यास की निवृत्ति के लिए ही समझना चाहिये। यदि इसे आत्मा से भिन्न अनात्म वस्तु का निषेध करने के लिए समझा जायगा तो वह तो शून्यता का ही वर्णन होगा। [क्योंकि अनात्म पदार्थ तो जड़ होने के कारण स्थूलादि धर्म विशिष्ट ही हैं; यदि उनका निषेध कर दिया जायगा तो ईशयितव्य वस्तु का अभाव होने के कारण ईश्वर का ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा, और इस प्रकार शून्यवाद का प्रसंग उपस्थित हो जायगा] ॥ ३ ॥

बुभुत्सोर्यदि चान्यत्र प्रत्यगात्मन इष्यते ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चानर्थकं वचः ॥ ४ ॥

यदि जिज्ञासु को प्रत्यगात्मा से अन्यत्र देहादि में इन धर्मों का निषेध इष्ट हो तो [आत्मा के विषय में] 'वह प्राणहीन मन-हीन और शुद्ध है' यह वचन व्यर्थ हो जायगा। [क्योंकि प्राणादि का अनात्मरूप से भी अभाव स्वीकार करने पर तो यह वचन अप्राप्त का निषेध करनेवाला सिद्ध होगा] ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरण ॥ ४ ॥

अहंप्रत्ययबीजं यदहंप्रत्ययवत्स्थितम् ।
नाहंप्रत्ययवद्दग्धं कथं कर्म प्ररोहति ॥ १ ॥

[यदि कहो कि ईश्वर से आत्मा का अभेद बोध हो जाने पर भी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण में बहुत से सञ्चित कर्मों के संस्कार हैं और उनका फल भी अवश्यम्भावी है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] जो अहंकार का बीजभूत कर्म अहंप्रत्ययवान् अन्तःकरण में स्थित है वह 'मैं अहंकार नहीं हूँ' इस प्रकार के ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो जाने पर किस प्रकार उग सकता है ? ॥ १ ॥

दृष्टवच्चेत्प्ररोहः स्यान्नान्यकर्मा स इष्यते ।
तन्निरोधे कथं तत्स्यात्पृच्छामो यस्तदुच्यताम् ॥२॥

यदि कहो कि [भिक्षाटनादि] दृष्ट कर्मों के समान उसके संचित कर्म भी फल प्रदान कर ही सकेंगे[1] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उसका वह व्यापार तो प्रारब्धजनित है। [पूर्व०—] किन्तु अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर [उसका कार्यभूत] प्रारब्ध भी कैसे रह सकता है ? हमारा यह प्रश्न है, इसका उत्तर दो ॥ २ ॥

देहाद्यारम्भसामर्थ्याज्ज्ञानं सद्विषयं त्वयि ।
अभिभूय फलं कुर्यात्कर्मान्ते ज्ञानमुद्भवेत् ॥ ३ ॥

१ क्योंकि उसे भिक्षाटनादि दृष्टकर्मों का फल प्राप्त होता देखा ही गया है।

सिद्धान्ती—प्रारब्ध कर्म में देहादि के आरम्भ का सामर्थ्य है; अतः तुम्ह ज्ञानवान् में सद्वस्तु (ब्रह्म) विषयक ज्ञान को दबाकर भी अपना फल कर ही सकता है। उसकी समाप्ति होने पर ही [विदेह कैवल्यरूप] प्रति शून्य ज्ञान का आविर्भाव होता है ॥ ३ ॥

आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः ।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु ॥ ४ ॥

भोग और ज्ञान-ये दोनों ही प्रारब्ध कर्म के फल हैं, अतः उनमें अविरोध होना उचित ही है; किन्तु अन्य कर्मों का ज्ञान से विरोध है ॥ ४ ॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।
ततः सर्वमिदं सिद्धं प्रयोगोऽस्माभिरीरितः ॥ ५ ॥

[यदि कहो कि जब ज्ञानी को भी प्रारब्धजनित भोग भोगना ही है तो यह भी सम्भव है कि इस प्रकार भोग भोगते-भोगते देहाभिमान हो ज्ञान प्रतिबद्ध हो जाने के कारण उसका मोक्ष न हो—तो इसपर हमारा कहना है कि] जिस प्रकार [अज्ञानी पुरुषों को] देह में आत्मबुद्धि हो रही है उसी जिसे आत्मा में ही देहात्मबुद्धि का बाध करने वाला ज्ञान हो गया है वह न करने पर भी मुक्त हो जाता है। अतः यह [प्रारब्ध से आत्म अविरोधादि] सब सिद्ध हो गया। इसके विषय में हमने युक्ति तो कह दी है ॥ ५ ॥

बुद्ध्यपराधप्रकरण ॥ ५ ॥

मूत्राशङ्को यथोदङ्को नाग्रहीदमृतं यथा ।
कर्मनाशभयाज्जन्तोरात्मज्ञानाग्रहस्तथा ॥ १ ॥

जिस प्रकार उदङ्क ऋषि ने मूत्र की आशङ्का से अमृत ग्रहण नहीं किया था[1] उसी प्रकार [वर्णाश्रमादिविहित] कर्म नष्ट हो जायगा—इस भय से जीव आत्मज्ञान को स्वीकार नहीं करते ॥ १ ॥

बुद्धिस्थश्चलतीवात्मा ध्यायतीव च दृश्यते ।
नौगतस्य यथा वृक्षास्तद्वत्संसारविभ्रमः ॥ २ ॥

बुद्धि में स्थित हुआ यह आत्मा चलता हुआ सा अथवा ध्यान करता हुआ-सा दिखायी देता है। जिस प्रकार नौकापर बैठकर जाते हुए पुरुष को किनारे के वृक्ष चलते दिखायी देते हैं उसी प्रकार यह संसार का भ्रम हो रहा है ॥ २ ॥

नौस्थस्य प्रातिलोम्येन नगानां गमनं यथा ।
आत्मनः संसृतिस्तद्वद् ध्यायतीवेति हि श्रुतिः ॥ ३ ॥

[तात्पर्य यह है कि] जिस प्रकार नौका में बैठे हुए पुरुष को [तटवर्ती] वृक्षों का विपरीत दिशा में जाना प्रतीत होता है उसी प्रकार

---

१ इस विषय में ऐसी आख्यायिका है कि उदङ्क नामक किसी ऋषि ने तपस्या द्वारा भगवान् विष्णु को तुष्ट कर उनसे देवताओं द्वारा सुरक्षित अमृत माँगा। भगवान् ने उन्हें अभीष्ट वर देकर इन्द्र को अमृत ले जाने की आज्ञा दी। इन्द्र की इच्छा थी कि ऋषि को अमृत प्राप्त न हो। अतः वे मातंग का वेष धारण कर अमृत के कलश को बस्ति-देश में लगाकर ले गये। यह देखकर उदङ्क को यह आशंका हुई कि यह चाण्डाल इस घड़े में अपना मूत्र लाया है और उन्होंने इस प्रकार प्रत्यक्ष प्राप्त हुए अमृत का भी तिरस्कार कर दिया। यही दशा आत्मज्ञान के विषय में अज्ञानियों की है।

आत्मा को संसार की प्रतीति हो रही है। इस सम्बन्ध में "ध्यायतीव लेलायः (आत्मा मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है) यह श्रुति प्रमाण है।

चैतन्यप्रतिबिम्बेन व्याप्तो बोधो हि जायते ।
बुद्धेः शब्दादिभिर्भासस्तेन मोमुह्यते जगत् ॥ ४ ॥

क्योंकि प्रत्येक विषयज्ञान चिदाभास से [विषय के] व्याप्त होने पर होता है। इसलिए शब्दादिरूप से बुद्धि को आत्मा की ही प्रतीति हो रही है। उस आत्मा अनात्मा के अविवेक से ही जगत् मोहित हो रहा है[1] ॥ ४ ॥

चैतन्यभास्यताहमस्तादर्थ्यं च तदस्य यत् ।
इदमंशप्रहाणे न परः सोऽनुभवो भवेत् ॥ ५ ॥

[त्रिजडग्रन्थिरूप] अहंकार की जो चैतन्यभास्यता (दृश्यता) है इसका जो आत्मार्थ [अर्थात् आत्मा का शेषभूत] होना है [ये दोनों अं से ही सम्बन्धित हैं]। इस इदमंश [अर्थात् अहंकार के दृश्यत्व] का हो जाने पर ये नहीं रहते, फिर जो अनुभव होता है वही परात्मा है[2] ॥

१ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नौका में बैठे हुए पुरुष को अविवे किनारे के वृक्ष चलते दिखायी देते हैं उसी प्रकार जब तक विषयों को करने वाली बुद्धि और उसे प्रकाशित करने वाले आत्मा का विवेक नहीं तब तक बुद्ध्यादि से तादात्म्य को प्राप्त हुआ आत्मा अपने को देह मानता है और उनके व्यापार का अपने ही में आरोपित करता है। किन्तु प्रकार तटवर्ती पुरुष को वृक्ष अचल दिखायी देते हैं उसी प्रकार विवेक होने प अपनी असंगता का अनुभव होता है और उसे यह प्रत्यक्ष अनुभव होने है कि ये शब्दादि ज्ञान माया जनित उपाधि के कारण मिथ्या ही हो रहे है

२ यहाँ यदि 'इदमंशप्रहाणेन' ऐसा पाठ माना जाय तो इसका तात्पर्य प्रकार होगा—क्योंकि इस अहंकार की चैतन्यभास्यता (जडता) और त (चैतन्य का शेषत्व) है, इसलिए यह चेतन आत्मा नहीं है। इसके इ (वेदांश) का त्याग करने पर अर्थात् इस अहंकार में आत्मत्वाभिमान देने पर जो अनुभव होता है वही पर-आत्मा है।

विशेषापोह्यप्रकरण ॥ ६ ॥

छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशिष्यते ।
तथा शिष्टेन सर्वेण येन येन विशेष्यते ॥ १ ॥

जिस प्रकार काटकर फेंके हुए हाथ द्वारा स्वयं आत्मा ['मैं हाथवाला हूँ' इस प्रकार] विशेषित नहीं होता उसी प्रकार शेष (मनुष्यत्वादि) जिन-जिन विशेषणोंसे विशेषित किया जाता है उन सबसे भी वह वस्तुतः विशिष्ट नहीं है॥१॥

तस्मात्त्यक्तेन हस्तेन तुल्यं सर्वं विशेषणम् ।
अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वैर्विशेषणैः ॥ २ ॥

अतः अनात्मा होने के कारण सारे विशेषण काटकर फेंके हुए हाथ के ही समान हैं । इसलिए आत्मा समस्त विशेषणों से रहित है ॥ २ ॥

विशेषणमिदं सर्वं साध्वलंकरणं यथा ।
अविद्याध्यासतः सर्वं ज्ञात आत्मन्यसद्भवेत् ॥ ३ ॥

किन्तु अविद्याजनित अध्यास के कारण होने वाले ये सब विशेषण भी पुरुष के अलंकारों के समान ठीक ही हैं । आत्मा का ज्ञान होने पर तो ये असत् ही निश्चय होते हैं ॥ ३ ॥

ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः ।
अहमित्यपि यद्ग्राह्यं व्यपेताङ्गसमं हि तत् ॥ ४ ॥

अतः ज्ञेय (दृश्य) का बाध करके आत्मा का सर्वदा केवल ज्ञातारूप से ही अनुभव करना चाहिये । 'अहम्' इस प्रकार जो आत्मा ग्राह्य (ज्ञेय) रूपसे अनुभव होता है वह भी कटे हुए अंग के समान वस्तुतः अनात्मा ही है[1] ॥४॥

यावान्स्यादिदमंशो यः स स्वतोऽन्यो विशेषणम् ।
विशेषप्रक्षयो यत्र सिद्धो ज्ञश्चित्रगुर्यथा ॥ ५ ॥

---

१ इसी से सुषुप्ति और मूर्छादि के समय आत्मा के विद्यमान रहते हुए भी उसकी 'अहम्' इस प्रकार प्रतीति नहीं होती ।

[इस प्रकार अहंप्रत्ययग्राह्य न होने के कारण आत्मा चक्षु आदि इन्द्रि का विषय तो हो नहीं सकता, फिर उसके अनुभव का द्वार क्या है ?—ऐ शंका होने पर कहते हैं–] 'अहम्' इस प्रत्यय में जितना इदमंश (दृश्यत्व) वह आत्मा से भिन्न उसका विशेषण ही है। जहाँ इस विशेषांश का क्षय जाता है वहाँ चित्रगु (चितकबरी गाय वाले देवदत्तादि) के समान आ का निश्चय हो जाता है[1] ॥ ५ ॥

इदमंशोऽहमित्यत्र त्याज्यो नात्मेति पण्डितैः ।
अहंब्रह्मेति शिष्टांशो भूतपूर्वगतेर्भवेत् ॥ ६ ॥

'अहम्' इस प्रत्यय में बुद्धिमानों के लिये केवल इदमंश ही त्याज्य आत्मा का त्याग अभीष्ट नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में भूत पूर्वगति [अर्थात् पूर्व प्रसंग के अनुसार] अवशिष्टांश ही लिया गया है ॥ ६ ॥

बुद्ध्यारूढप्रकरण ॥ ७ ॥

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं दृश्यते यत्र तत्र वा ।
मया तस्मात्परं ब्रह्म सर्वज्ञश्चास्मि सर्वगः ॥ १ ॥

क्योंकि मुझे जहाँ-तहाँ सर्वदा बुद्धिवृत्ति पर आरूढ हुई सम्पूर्ण वस्तुएँ ही प्रतीति होती है, इसलिये मैं [समस्त दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण] सबका सर्वगत ब्रह्म ही हूँ ॥ १ ॥

यथात्मबुद्धिचाराणां साक्षी तद्वत्परेष्वपि ।
नैवापोढुं न वा दातुं शक्यस्तस्मात्परो ह्यहम् ॥ २ ॥

मैं जिस प्रकार अपनी बुद्धि के विषयभूत स्थूल-सूक्ष्मादि देहों का साक्षी उसी प्रकार अन्य शरीरों में भी [उनका साक्षी] हूँ। इस प्रकार [...

१ जिस प्रकार 'चितकबरी गाय वाला' यह देवदत्त का विशेषण है; देवदत्त का यथावत् ज्ञान इस विशेषण को छोड़कर ही हो सकता है उसी प्रकार अहं प्रत्यय के साक्षीभास्य दृश्यत्वांश का बाध करके ही शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है।

होने के कारण] क्योंकि मेरा ग्रहण या त्याग नहीं किया जा सकता, इसलिये मैं समस्त प्रपञ्च से विलक्षण परमात्मा हूं ॥ २ ॥

विकारित्वमशुद्धत्वं भौतिकत्वं न चात्मनः ।
अशेषबुद्धिसाक्षित्वाद् बुद्धिवच्चाल्पवेदना ॥ ३ ॥

आत्मा में विकारित्व, अशुद्धत्व तथा भौतिकत्व नहीं है तथा समस्त बुद्धियों का साक्षी होने के कारण उसमें [केवल एक ही शरीर से सम्बन्ध रखने वाली] बुद्धि के समान अल्पज्ञता भी नहीं है ॥ ३ ॥

मणौ प्रकाश्यते यद्वद्रक्ताद्याकारताऽऽतपे ।
मयि संदृश्यते सर्वमातपेनेव तन्मया ॥ ४ ॥

[यदि कोई शंका करे कि निर्विकार आत्मा समस्त वस्तुओं का प्रकाशक कैसे हो सकता है ? तो उसके लिये यह लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है—] जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में स्फटिक मणि में लालिमादि की प्रतीति होती है उसी प्रकार [सूर्यरूप] मेरे विद्यमान रहते हुए ही सूर्यालोक से लालिमादि के समान मेरे ही द्वारा सम्पूर्ण बुद्धिस्थ विषय प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

बुद्धौ दृश्यं भवेद्बुद्धौ सत्यां नास्ति विपर्यये ।
द्रष्टा यस्मात्सदा द्रष्टा तस्माद् द्वैतं न विद्यते ॥ ५ ॥

किन्तु बुद्धि के रहते हुए ही बुद्धि में दृश्य की प्रतीति होती है, उसकी अविद्यमानता में नहीं होती । तथापि साक्षी आत्मा तो सदा ही साक्षी रहता है [दृश्य के समान उसका व्यभिचार नहीं होता] ; इसलिये [आगमापायी होने के कारण] द्वैत की सत्ता नहीं है ॥ ५ ॥

अविवेकात्पराभावं यथा बुद्धिरवैत्तथा ।
विवेकात्तु परादन्यः स्वयं चापि न विद्यते ॥ ६ ॥

जिस प्रकार अविवेक के कारण बुद्धि को परात्मा का अभाव अनुभव होता था उसी प्रकार अब विवेक हो जाने पर परसे भिन्न वह (बुद्धि) स्वयं भी नहीं रही ॥६॥

मतिविलापनप्रकरण[1] ॥ ८ ॥

चितिस्वरूपे स्वत एव मे मते रसादियोगस्तव मोहकारितः ।
अतो न किंचित्तव चेष्टितेन मे फलं भवेत्सर्वविशेषहानतः ॥१॥

मुझे आत्मा स्वतः ही चैतन्यस्वरूप अभिमत है; ऐसी अवस्था में उ[स के] साथ रूप रसादि विषयों का सम्बन्ध तेरे मोह के ही कारण है[2] । अतः आ[त्मा] में सम्पूर्ण विशेष धर्मों का अभाव होने के कारण [हे बुद्धे !] तेरी चेष्टा[ओं के] द्वारा मुझे कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १ ॥

विमुच्य मायामयकार्यतामिह प्रशान्तिमायाह्यसदीहितात्सदा ।
अहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तवत्तथाजमेकं द्वयवर्जितं यतः ॥२॥

इस प्रकार क्योंकि मैं आत्मा सर्वदा विमुक्तवत्[3] और एक अद्वि[तीय] अजन्मा ब्रह्म ही हूँ, इसलिये [हे बुद्धे !] सम्पूर्ण मायावी चेष्टाओं को त्याग[कर] तू सदा के लिये इस आत्मस्वरूप में व्यर्थ प्रयास से शान्ति लाभ कर ॥ २ ॥

सदा च भूतेषु समोऽस्मि केवलो यथा च खं सर्वगमक्षरं शिवम् ।
निरन्तरं निष्कलमक्रियं परं ततो न मेऽस्तीह फलं तवेहितैः ॥३॥

---

१ यदि ज्ञान और अज्ञान बुद्धि के ही अन्तर्गत हैं तो सांख्यसिद्धान्त [के] प्रसंग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि सांख्यवादी पुरुष के भोग और मोक्ष [के] लिये बुद्धि को ही अज्ञान और ज्ञानरूपता का व्यवहार करती बताते हैं। [इस] आशंका की निवृत्ति करने और आत्मा में स्वतःसिद्ध ज्ञान का प्रतिपादन करने [के] लिये आत्मा और बुद्धि का संवादरूप यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

२ टीकाकार श्रीरामतीर्थस्वामी 'रसादियोगस्तव मोहकारितः' उसका अ[र्थ] इस प्रकार करते हैं—'रसादियोगो रागादिनिबन्धनो भोक्तृत्वादिसम्बन्धः, मोहो[ऽ]विवेकः' अर्थात् रसादियोग का अर्थ है रागादिजनित भोक्तृत्वादि सम्बन्ध [और] मोह का अर्थ है अविवेक।

३ विमुक्त के समान, वस्तुतः विमुक्त नहीं; क्योंकि वास्तव में तो मेरे [लिये] बन्धन और मुक्ति दोनों ही का अभाव है।

मैं शुद्धस्वरूप सर्वदा ही समस्त भूतों में समान भाव से स्थित हूँ तथा आकाश के समान सर्वगत, अविनाशी, कल्याणस्वरूप, निरन्तर, निष्कल, निष्क्रिय और परब्रह्मस्वरूप हूँ। अतः तेरी चेष्टाओं से मुझे किसी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३ ॥

अहं ममैको न तदन्यदिष्यते तथा न कस्याप्यहमस्म्यसंगतः ।
असङ्गरूपोऽहमतो न मे त्वया कृतेन कार्यं तव चाद्वयत्वतः ॥४॥

मैं एक हूँ, मुझे अपने से भिन्न कुछ भी इष्ट नहीं है तथा असंग होने के कारण मैं भी किसी के अधीन नहीं हूँ, क्योंकि मैं असंग रूप हूँ। अतः तेरे किये हुए व्यापारों से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इसके सिवा तू भी तो अद्वय ब्रह्मस्वरूप ही है। [इसलिये वास्तव में तो मेरे से भिन्न तेरी सत्ता ही नहीं है] ॥ ४ ॥

फले च हेतौ च जनो विपक्तवानिति प्रचिन्त्याहमतो विमोक्षणे ।
जनस्य संवादमिमं प्रक्लृप्तवान्स्वरूपतत्त्वार्थविबोधकारणम् ॥ ५ ॥

[अब आचार्य इस प्रकरण की रचना करने का अपना उद्देश्य बतलाते हैं—] लोग हेतु और फलरूप संसार में विशेष रूप से आसक्त हैं—यह सोच कर इन्हें इससे छुड़ाने के लिये मैंने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध करानेवाले इस संवाद की रचना की है ॥ ५ ॥

संवादमेतं यदि चिन्तयन्नरो विमुच्यतेऽज्ञानमहाभयागमात् ।
विमुक्तकामश्च तथा जनः सदा चरत्यशोकः सम आत्मवित्सुखी ॥६॥

यदि कोई पुरुष इस संवाद का चिन्तन करे तो वह अज्ञानरूप महान् भय की प्राप्ति से मुक्त हो सकता है और फिर समस्त कामनाओं से मुक्त हुआ वह पुरुष सर्वदा निःशोक, समदर्शी, आत्मज्ञ और सुखी होकर [अपने ब्रह्मस्वरूप में ही] विचरता रहता है ॥ ६ ॥

सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण[1] ॥ ६ ॥

सूक्ष्मताव्यापिते ज्ञेये गन्धादेरुत्तरोत्तरम् ।
प्रत्यगात्मावसानेषु पूर्वपूर्वप्रहाणतः ॥ १ ॥

गन्धादि[2] (पृथ्वी-जलादि) से लेकर पूर्व-पूर्व कार्य भाग का त्याग हुए प्रत्यगात्मापर्यन्त उत्तरोत्तर कारण-तत्त्व की सूक्ष्मता एवं व्या समझनी चाहिये ॥ १ ॥

शारीरा पृथिवी तावद्यावद्बाह्या प्रमाणतः ।
अम्ब्वादीनि च तत्त्वानि तावज्ज्ञेयानि कृत्स्नशः ॥

जितना प्रमाण बाह्य पृथ्वी का है उतना ही शरीर सम्बन्धिनी पृथ्वी भी है। सर्वथा उसी प्रमाण में [शरीर सम्बन्धी] जल आदि तत्त्वों समझना चाहिये [अर्थात् वे भी बाह्य जलादि के अनुसार उत्तरोत्तर और व्यापक हैं] ॥ २ ॥

वाय्वादीनां यथोत्पत्तेः पूर्वं खं सर्वगं तथा ।
अहमेकः सदा सर्वश्चिन्मात्रः सर्वगोऽद्वयः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार वायु आदि की उत्पत्ति से पूर्व सर्वगत आकाश ही था प्रकार एक मैं (आत्मा) ही सर्वदा सर्वस्वरूप, चिन्मात्र, सर्वव्या अद्वितीय हूँ ॥ ३ ॥

---

१ इस प्रकरण में प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म की निरतिशय सूक्ष्मता व्यापकता का वर्णन किया गया है।

२ यहाँ 'गन्धादि' शब्द से उनके आकाशभूत पृथ्वी आदि तत्त्व चाहिये। पृथ्वी का कारण जल है, अतः वह पृथ्वी की अपेक्षा सूक्ष्म और है, क्योंकि पृथ्वी तो जल से ही उत्पन्न हुई है, इसलिये उसके अन्तर्गत है इसी प्रकार मूल कारण का अनुसंधान करते-करते ब्रह्म ही सब का निश्चित होता है। इसलिये वही सब की अपेक्षा सूक्ष्म और व्यापक है।

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मम पूः स्मृताः ।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन्मे कुतोऽन्यतः ॥ ४ ॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने प्राणी हैं वे सब मेरे शरीर कहे गये हैं; फिर किसी अन्य के द्वारा मेरे में काम-क्रोधादि दोष कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?[1] ॥ ४ ॥

भूतदोषैः सदाऽस्पृष्टं सर्वभूतस्थमीश्वरम् ।
नीलं व्योम यथा बालो दुष्टं मां वीक्षते जनः ॥ ५ ॥

जो भूतों के दोषों से सर्वदा अस्पृष्ट है उस सर्वभूतान्तर्यामी मुझ ईश्वर को लोग इस प्रकार दोषयुक्त देखते हैं जैसे बालक आकाश को नीलवर्ण युक्त समझते हैं ॥ ५ ॥

मच्चैतन्यावभास्यत्वात्सर्वप्राणिधियां सदा ।
पूर्मम प्राणिनः सर्वे सर्वज्ञस्य विपाप्मनः ॥ ६ ॥

समस्त प्राणियों की बुद्धियाँ मेरे चित्स्वरूप से ही प्रकाशित हैं। इसलिये सम्पूर्ण प्राणी मुझ पापरहित सर्वज्ञ के ही शरीर हैं ॥ ६ ॥

जनिमज्ज्ञानविज्ञेयं स्वप्नज्ञानवदिष्यते ।
नित्यं निर्विषयं ज्ञानं तस्माद् द्वैतं न विद्यते ॥ ७ ॥

[यदि कहो कि आत्मचैतन्य से प्रकाशित होनेवाली बुद्धियों की सत्ता रहने के कारण आत्मा का अद्वितीयत्व सिद्ध नहीं हो सकता तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] जो वस्तु जन्मशील और ज्ञान का विषय होती है उसे तो स्वप्नज्ञान के समान [मिथ्या] समझना चाहिये, क्योंकि [परमार्थतः] ज्ञान तो नित्य और निर्विषय है। अतः द्वैत की सत्ता नहीं है ॥ ७ ॥

---

१ क्योंकि काम क्रोधादि स्फूर्ति अन्य के द्वारा ही होती है और वस्तुतः मुझसे भिन्न अन्य कोई है नहीं।

ज्ञातुर्ज्ञातिर्हि नित्योक्ता सुपुप्ते त्वन्यशून्यतः ।
जाग्रज्ज्ञातिस्त्वविद्यातस्तद्ग्राह्यं चासदिप्यताम् ॥ ८ ॥

द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि तो नित्य कही गयी है, क्योंकि सुपुप्ति में द्रष्टा भिन्न (दृश्य) का अभाव होता है [किन्तु उस समय भी द्रष्टा का अभाव नहीं होता]। जाग्रत् अवस्था का [विषय विशिष्ट] ज्ञान तो अविद्या के कारण है। अतः उसके विषयभूत पदार्थों को असत् समझो ॥ ८ ॥

रूपवत्त्वाद्यसत्त्वान्न दृष्ट्यादेः कर्मता यथा ।
एवं विज्ञानकर्मत्वं भूम्नो नास्तीति गम्यते ॥ ९ ॥

[यदि कहो कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ऐसी श्रुति होने के कारण आत्मा भी श्रवण-मननादि का विषय है; अतः वह असत् होना चाहिये, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] भूमा आत्मा में रूपवत्त्व आदि नहीं हैं; अतः वह जिस प्रकार नेत्रादि का कर्म (विषय) नहीं हो सकता उसी प्रकार विज्ञान का भी नहीं हो सकता—यही ज्ञात होता है ॥ ९ ॥

दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरण ॥ १० ॥

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तॐ ॥ १ ॥

जो दृशिस्वरूप (चेतनस्वरूप), आकाश के समान व्यापक, इन्द्रियादि से अतीत, नित्यप्रकाशमान, अजन्मा, एक, अविनाशी, असंग, सर्वगत और अद्वितीय है वही मैं हूँ; अतः सर्वदा मुक्तस्वरूप हूँ, ॐ[१] ॥ १ ॥

[१] यहाँ 'ॐ' शब्द स्वीकृति का सूचक है; अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर शिष्य गुरु के कथन को स्वीकार करता है। अथवा आत्मा का ऐसा स्वरूप ॐ के द्वारा मुमुक्षुओं को अभिव्यक्त होता है—यह सूचित करने के लिये 'ॐ' का निर्देश किया है।

दृशिस्तु शुद्धोहमविक्रियात्मको न मेस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः ।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः संपूर्णभूमा त्वज आत्मनि स्थितः ॥२॥

मैं निर्विकार शुद्ध चेतन हूँ, स्वभावतः (वस्तुतः) मेरा कोई विषय नहीं है। मैं आगे, पीछे ऊपर, नीचे सभी ओर परिपूर्ण व्यापकस्वरूप हूँ। मैं अजन्मा हूँ और अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ ॥ २ ॥

अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः ।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैकतृप्तश्च ततो विमुक्तॐ ॥३॥

मैं अजन्मा, अमर, अजर, अमृत, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय हूँ। न किसी का कारण हूँ न कार्य, अपि तु अत्यन्त निर्मल और सर्वदा एकत्र निजानन्द से ही तृप्त हूँ; अतः मैं मुक्तस्वरूप हूँ, ॐ ॥ ३ ॥

सुषुप्तजाग्रत्स्वपतश्च दर्शनं न मेऽस्ति किंचित्स्वमिवेह मोहनम् ।
स्वतश्च तेषां परतोऽप्यसत्त्वतस्तुरीय एवास्मि सदादृगद्वयः ॥ ४ ॥

सुषुप्ति जाग्रत् और स्वप्न—इन तीनों अवस्थाओं में रहते हुए वस्तुतः मेरा अपना कोई व्यावहारिक दर्शन नहीं है [अर्थात् परमार्थतः इन तीनों ही अवस्थाओं में मैं किसी दृश्य को प्रकाशित नहीं करता]; यह तो केवल मोहमात्र है क्योंकि उन दृश्य पदार्थों की स्वतः और परतः किसी प्रकार सत्ता नहीं है। अतः मैं सर्वदा साक्षीस्वरूप अद्वितीय तुरीय[1] ही हूँ ॥ ४ ॥

शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसन्ततेर्न मे न चाहं मम निर्विकारतः ।
असत्त्वहेतोश्च तथैव सन्ततेरसत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत् ॥ ५ ॥

शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय और दुःखपरम्परा का न तो मुझसे सम्बन्ध है और न मैं स्वयं में हूँ, क्योंकि मैं निर्विकार हूँ; तथा इसके सिवा सोये हुए पुरुष के

---

१ जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं के अभिमानी विश्वादिका बाध करने पर शेष रहने के कारण आत्मा को 'तुरीय' कहा जाता है। 'तुरीय' शब्द का अर्थ 'चतुर्थ' है।

[स्वप्नजनित] दृश्य के समान उस दुःखपरम्परा की सत्ता न होने के भी उसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ५ ॥

इदं तु सत्यं मम नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न हि मेऽद्वयत्व
न पुण्यपापे न च मोक्षबन्धने न चास्ति वर्णाश्रमताऽशरीरतः

यह ठीक ही है कि अद्वितीय होने के कारण मुझमें न तो विकार है न विकार का कारण ही है। तथा शरीर रहित होने के कारण मुझमें पु मोक्ष-बन्धन एवं वर्णाश्रम धर्म भी नहीं हैं ॥ ६ ॥

अनादितो निर्गुणतो न कर्म मे फलं च तस्मात्परमोऽहम
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा ह्यहं देहगतोऽपि सूक्ष्मतः

अनादि और निर्गुण होने के कारण मेरा कोई कर्म या कर्म-फल हैं। अतः मैं सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय हूँ। जिस प्रकार आकाश सर्वव्या पर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म होने मैं देह में व्याप्त होने पर भी उससे लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

सदा च भूतेषु समोऽहमीश्वरः क्षराक्षराभ्यां परमो ह्यथो
परात्मतत्त्वश्च तथाद्वयोऽपि सन्विपर्ययेणाभिमतस्त्वविद्यया।

मैं भूतों में समान भाव से स्थित ईश्वर हूँ, मैं कार्य-कारण भाव से तथा [उसका अधिष्ठान होने के कारण] उत्कृष्ट हूँ; तथा मैं परात्म अद्वितीय होने पर भी अविद्यावश विपरीत रूप से माना जाता हूँ ॥ ८

अविद्यया भावनया च कर्मभिर्विविक्त आत्मा व्यवधिः सुनि
दृगादिशक्तिप्रचितोऽहमद्वयः स्थितः स्वरूपे गगनं यथाऽचल

अविद्या भावना और कर्मों के द्वारा उनसे असंग आत्मा का कोई नहीं होता; अतएव वह निर्मल है। [अविद्याध्यस्त अन्तःकरण की भूता] दृगादि शक्तियों के सम्बन्ध से ही उसमें द्रष्टृत्वादि का है। वस्तुतः तो मैं अद्वितीय हूँ और आकाश के समान अविचल भा स्वरूप में स्थित हूँ ॥ ९ ॥

अहं परं ब्रह्म विनिश्चयात्मदृङ् न जायते भूय इति श्रुतेर्वचः ।
न चैव बीजे त्वसति प्रजायते फलं न जन्मास्ति ततो ह्यमोहता ॥१०॥

'मैं परब्रह्म हूँ'—ऐसा जिसे निश्चयात्मक आत्मज्ञान हो गया है उसका पुनः जन्म नहीं होता—ऐसा श्रुति का वाक्य[1] है, क्योंकि बीज के न रहने पर फल उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्योंकि अज्ञान नहीं रहा, इसलिये जन्म भी नहीं होता ॥ १० ॥

ममेदमित्थं च तथेदमीदृशं तथाहमेवं न परो न वान्यथा ।
विमूढतैवं न जनस्य कल्पना सदा समे ब्रह्मणि चाद्वये शिवे ॥११॥

'मेरा यह शरीर ऐसा [सुन्दर या असुन्दर] है यह इस प्रकार का [स्थूल या सूक्ष्म] है, मैं ऐसा [स्थूल या सूक्ष्म] हूँ, तथा अन्य पुरुष ऐसा या वैसा नहीं है' यह लोगों की मूढ़ता ही है; सर्वदा समानरूप से स्थित, अद्वितीय शिव-स्वरूप ब्रह्म में लोगों की ऐसी कल्पना को अवकाश नहीं है ॥११॥

यदद्वयं ज्ञानमतीव निर्मलं महात्मनां तत्र न शोकमोहता ।
तयोरभावे न हि कर्म जन्म वा भवेदयं वेदविदां विनिश्चयः ॥ १२॥

जो अत्यन्त निर्मल अद्वितीय ज्ञान है उसके उत्पन्न होने पर महात्माओं को शोक या मोह नहीं हो सकते, तथा उनका अभाव होने पर कर्म या जन्म नहीं हो सकते—ऐसा वेदवेत्ताओं का निश्चय है ॥ १२ ॥

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं तु पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥

आत्मा का अद्वितीयत्व निश्चय हो जाने के कारण जो सुषुप्त पुरुष के समान जाग्रत् अवस्था में भी द्वैत का अनुभव नहीं करता तथा जो सब कुछ करते हुए

[1] इस विषय में निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रमाण हैं—
'सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते', 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः', 'अथ सोऽमयं गतो भवति', 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि ।

भी निष्क्रिय रहता है वही आत्मज्ञ है, अन्य कोई नहीं—वेदान्त शास्त्र का ही निश्चय है ॥ १३ ॥

इतीदमुक्तं परमार्थदर्शनं मया हि वेदान्तविनिश्चितं परम्।
विमुच्यतेऽस्मिन्यदि निश्चितो भवेन्न लिप्यते व्योम इवेह कर्म

इस प्रकार मैंने यह वेदान्त शास्त्र की निश्चय की हुई उत्कृष्ट परमा का निरूपण किया। यदि किसी पुरुष की इसमें निष्ठा हो जाय तो व हो जाता है और फिर आकाश के समान इस लोक में कर्मों से नहीं होता ॥ १४ ॥

ईक्षितृत्वप्रकरण ॥ ११ ॥

ईक्षितृत्वं स्वतः सिद्धं जन्तूनां च ततोऽन्यता।
अज्ञानादित्यतोऽन्यत्वं सदसीति निवर्त्यते ॥ १

समस्त जीवों का ईक्षितृत्व (चित्स्वरूपत्व) स्वभाव से ही सिद्ध है उनकी भिन्नता अज्ञानजनित [उपाधि के कारण] है। इसीलिये (ब्रह्म) है" इस वाक्यद्वारा उनके भेद का निराकरण किया गया है ॥

एतावध्यमृतत्वं न किंचिदन्यत्सहायकम्।
ज्ञानस्येति ब्रुवच्छास्त्रं सलिङ्गं कर्म बाधते ॥ २ ॥

यह (आत्मज्ञान) ही अमृतत्व (मोक्षप्राप्ति का साधन) है (आत्मज्ञान) का कोई और सहायक नहीं है, इस प्रकार कहते हुए यज्ञोपवीतादि आश्रमोचित लिंगों के सहित कर्म का बाध करता है ॥ २

सर्वेषां मनसो वृत्तमविशेषेण पश्यतः।
तस्य मे निर्विकारस्य विशेषः स्यात्कथंचन ॥ ३ ॥

१ पूरी श्रुति इस प्रकार है—
"एतावदरे खल्वमृतत्वम् (बृ० उ० ४।५।१५)

सबके अन्तःकरणों की वृत्तियों को सामान्य भाव से देखने वाले मुझ निर्विकार आत्मा का कोई विशेष भाव कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥

मनोवृत्तं मनश्चैव स्वप्नवज्जाग्रतीक्षितुः ।
संप्रसादे द्वयासत्त्वाच्चिन्मात्रः सर्वगोऽव्ययः ॥ ४ ॥

स्वप्न के समान जाग्रत् अवस्था में भी मन और मन की वृत्तियों के साक्षी [आत्मा का कोई विशेष भाव कैसे हो सकता है ?] किन्तु सुषुप्ति में इन दोनों का अभाव हो जाने के कारण आत्मा सर्वगत अविनाशी चेतनमात्र रहता है ॥ ४ ॥

स्वप्नः सत्यो यथाऽऽबोधाद्देहात्मत्वं तथैव च ।
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वं जाग्रत्स्यादात्मवेदनात् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार जगने तक स्वप्न सत्य है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने तक ही जाग्रत् अवस्था में देहात्मबुद्धि और प्रत्यक्षादि का प्रमाणत्व ठीक है ॥५॥

व्योमवत्सर्वभूतस्थो भूतदोषैर्विवर्जितः ।
साक्षी चेताऽगुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मीति केवलः ॥ ६ ॥

वस्तुतः तो मैं आकाश के समान समस्त भूतों में स्थित किन्तु उनके दोषों से रहित हूँ; तथा सबका साक्षी और प्रकाशक एक मात्र निर्गुण शुद्ध ब्रह्म ही हूँ ॥६॥

नामरूपक्रियाभ्योऽन्यो नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।
अहमात्मा परं ब्रह्म चिन्मात्रोऽहं सदाऽद्वयः ॥ ७ ॥

मैं नाम रूप और क्रिया से भिन्न एवं नित्यमुक्तस्वरूप हूँ तथा मैं आत्मा नित्य अद्वितीय चिन्मात्र परब्रह्म हूँ ॥ ७ ॥

अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः ।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः ॥ ८ ॥

'मैं परब्रह्म हूँ तथा कर्ता-भोक्ता भी हूँ' ऐसा जो लोग मानते हैं वे ज्ञान और कर्म दोनों से ही पतित हैं तथा निःसन्देह नास्तिक ही हैं ॥ ८ ॥

धर्माधर्मफलैर्योग इष्टो दृष्टो यथात्मनः।
शास्त्राद् ब्रह्मत्वमप्यस्य मोक्षो ज्ञानात्तथेष्यताम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार [किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध न होने पर भी मीमांसा के अ-नुसार] शास्त्र के आधार पर ही आत्मा का पुण्य-पापरूप फलों से सम्बन्ध माना जाता है उसी प्रकार शास्त्र प्रमाण से ही उसका ब्रह्मत्व और ज्ञान से मोक्ष स्वीकार करना चाहिए ॥ ९ ॥

या महारजनाद्यास्ता वासनाः स्वप्नदर्शिभिः।
अनुभूयन्त एवेह ततोऽन्यः केवलो दृशिः ॥ १० ॥

[यदि कहो कि शास्त्र जो आत्मा के साथ धर्माधर्म का सम्बन्ध मानता है वह तो अन्य प्रमाणों से विरुद्ध न होने के कारण ठीक ही है, किन्तु आत्मा का अकर्तृत्व उसके प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले कर्तृत्व-भोक्तृत्व से विरुद्ध है, इसलिये ठीक नहीं। अतः शास्त्र और अनुभव का अविरोध करने के लिये हमें भेदाभेद-वाद स्वीकार करना चाहिये तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] जो हल्दी आदि से रंगे हुए वस्त्रादि के समान जाग्रत्कालीन वासनाएँ हैं उन्हीं का स्वप्न देखने-वाले पुरुष द्वारा अनुभव किया जाता है; [वस्तुतः उनकी सत्ता नहीं होती] इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी शुद्ध साक्षीमात्र आत्मा उस विषयदर्शन से सर्वदा भिन्न रहता है ॥ १० ॥

कोशादिव विनिष्कृष्टः कार्यकारणवर्जितः।
यथासिर्दृश्यते स्वप्ने तद्वद्बोद्धा स्वयंप्रभः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार कोश से निकाला खड्ग उस कोश से पृथक् दिखलायी देता है उसी प्रकार स्वप्नावस्था में स्वयं प्रकाश बोद्धा भी कार्य-कारणाकार से अलग ही रहता है ॥११॥

आपेपात्प्रतिबुद्धस्य ज्ञस्य स्वाभाविकं पदम्।
उक्तं नेत्यादिवाक्येन कल्पितस्यापनेतृणा ॥ १२ ॥

कल्पित प्रपञ्च का बाध करनेवाले 'नेति नेति' आदि वाक्य ने हाथ दबाने से जगे हुए चेतन आत्मा का स्वाभाविकरूप बतलाया है[1] ॥ १२ ॥

महाराजादयो लोका मयि यद्वत्प्रकल्पिताः ।
स्वप्ने तद्वद् द्वयं विद्याद्रूपं वासनया सह ॥ १३ ॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में महाराजादि लोक मेरे में ही कल्पित हैं [अर्थात् 'मैं महाराज हो गया हूँ' यह निद्रादोष के कारण मेरे ही चित्त में कल्पना होती है] उसी प्रकार वासनाओं के सहित इस द्वैत दृश्य को भी मेरे में ही कल्पित समझो ॥ १३ ॥

देहलिङ्गात्मना कार्या वासनारूपिणा क्रियाः ।
नेतिनेत्यात्मरूपत्वान्न मे कार्या क्रिया क्वचित् ॥ १४ ॥

कर्म तो वासनारूपी लिंग देह-रूप होने पर ही कर्त्तव्य है। मैं तो 'यह स्थूल देह आत्मा नहीं है, यह सूक्ष्म देह आत्मा नहीं है' इत्यादि वाक्य द्वारा लक्षित आत्मस्वरूप हूँ; अतः मेरे लिये कभी कोई कर्म कर्त्तव्य नहीं है ॥ १४ ॥

न ततोऽमृतताशास्ति कर्मणोऽज्ञानहेतुतः ।
मोक्षस्य ज्ञानहेतुत्वान्न तदन्यदपेक्षते ॥ १५ ॥

---

१ इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित श्रुति करती है—

"तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्निति । स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥

(बृ० उ० २।१।१५)

अर्थात् वे (अजात शत्रु और गार्ग्य बालाकी) एक सोये हुए पुरुष के पास आये और उसे बृहत्, पाण्डरवास सोम और राजन् आदि [प्राण के] नामों से पुकारा, किन्तु वह न उठा। तब उसे हाथ से दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा।

इस श्रुति में आत्मा की प्राण से पृथक्ता दिखलायी गयी है, क्योंकि यदि प्राण ही आत्मा होता तो प्राण के नाम लेकर पुकारने पर उस पुरुष को जाग पड़ना चाहिये था।

कर्म अज्ञानजनित है; इसलिये उससे अमृतत्व की आशा नहीं है, मोक्ष
कारण तो ज्ञान ही है; इसलिये वह (ज्ञान) किसी अन्य (कर्मादि
अपेक्षा नहीं रखता ॥ १५ ॥

अमृतं चाभयं नार्तं नेतीत्यात्मा प्रियो मम ।
विपरीतमतोऽन्यद्यत्त्यजेत्तत्सक्रियं ततः ॥ १६ ॥

'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा अमृत और अभ
है; यह नाशवान् नहीं है तथा मेरा प्रिय है। उससे भिन्न जो अनात्मा
इससे विपरीत स्वभाव वाला है; अतः उस सक्रिय अनात्मा का त्या
करना चाहिये ॥ १६ ॥

प्रकाशप्रकरण ॥ १२ ॥

प्रकाशस्थं यथा देहं सालोकमभिमन्यते ।
द्रष्ट्राभासं तथा चित्तं द्रष्टाहमिति मन्यते ॥ १ ॥

[यदि 'प्रिय' शब्द से कहा हुआ आत्मा ही ब्रह्म है तो सब लोग
प्रकार आत्मा को अहं रूप से अनुभव करते हैं उस प्रकार ब्रह्म को क्यों
करते ? इस शंका का निराकरण करने के लिये आचार्य कहते हैं—]
प्रकार प्रकाशस्थित स्थूल देह को लोग प्रकाश युक्त मानते हैं उसी प्रकार
आत्मा से प्रकाशित चित्त को ही वे 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा मानते हैं[1] ॥ १ ॥

१ तात्पर्य यह है कि यद्यपि ब्रह्म कर्तृत्वादि शून्य है तथापि अविवे
लोगों को उसका अनुभव नहीं होता। जिस प्रकार प्रकाश सामान्यरूप से
व्याप्त है, किन्तु किसी स्थूल शरीर से संश्लिष्ट होने पर वह तदाकार
होता है उसी प्रकार सर्वत्र समानरूप से व्याप्त निर्विशेष चेतनतत्त्व अन्त
में व्याप्त होने से अन्तःकरण रूप जान पड़ता है और उस चिदाभास
अन्तःकरण को ही लोग आत्मा समझते हैं। अतः अहं रूप से जो आ
अनुभव होता है वह तो अविवेक के कारण है, वस्तुतः तो आत्मा और
कुछ भी भेद नहीं है।

यदेव दृश्यते लोके तेनाभिन्नत्वमात्मनः ।
प्रपद्यते ततो मूढस्तेनात्मानं न विन्दति ॥ २ ॥

लोक में [प्राण से लेकर स्थूल देह पर्यन्त] जो कुछ दिखायी देता है उसी से आत्मा का तादात्म्य हो जाता है । इसी कारण से अज्ञानी पुरुष को आत्मा का [यथावत] ज्ञान नहीं होता ॥ २ ॥

दशमस्य नवात्मत्वप्रतिपत्तिवदात्मनः ।
दृश्येषु तद्वदेवायं मूढो लोको न चान्यथा ॥ ३ ॥

दशम रूप आत्मा के नवात्म ज्ञान के समान यह लोक बुद्धि आदि दृश्य वर्ग में मोहित हो रहा है; इससे विपरीत [बुद्धि आदि का बाध करके शुद्ध आत्मा का] अनुभव नहीं करता[1] ॥ ३ ॥

त्वं कुरु त्वं तदेवेति प्रत्ययावेककालिकौ ।
एकनीडौ कथं स्यातां विरुद्धौ न्यायतो वद ॥ ४ ॥

'तू [यज्ञादि] कर' और 'तू वही (ब्रह्म ही) है' इस प्रकार के दो विरुद्ध ज्ञान एकही समय एक आश्रय में कैसे रह सकते हैं? यह युक्ति के द्वारा बतलाओ[2] ॥४॥

---

१ एक बार दश विद्यार्थियों ने नदी के पार जाकर, यह जानने के लिये कि हम में से कोई बह तो नहीं गया, आपस में गिनना आरम्भ किया। उनमें से जो भी गिनना आरम्भ करता वह अपने को छोड़कर शेष नौ को गिन जाता— इस श्रुतिप्रसिद्धि के समान जिस प्रकार के विद्यार्थी दशमरूप अपने को भूल कर अपने को नौ से भिन्न नहीं देख पाते थे इसी प्रकार बुद्धि आदि दृश्य वर्ग में मोहित हुए लोग अपने को बुद्धि आदि से असंग अनुभव नहीं कर पाते।

२ तात्पर्य यह है कि एक ही चेतन का कर्ता-भोक्ता तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व शून्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप होना सम्भव नहीं है। अतः श्रुति ने जो जीव के लिये अग्निहोत्रादि कर्मों की अवश्यकर्तव्यता का विधान किया है वह उसके लोक प्रसिद्ध कर्तृत्व को स्वीकार करके केवल अज्ञानावस्था में ही है। बोधवान् तथा जिज्ञासु के लिये तो उसके शुद्धस्वरूप का ही निरूपण किया गया है। अतः वस्तुतः श्रुति को आत्मा के कर्तृत्वादि का बाध ही इष्ट है।

देहाभिमानिनो दुःखं नादेहस्य स्वभावतः ।
स्वापवत्तत्प्रहाणाय तत्त्वमित्युच्यते दृशेः ॥ ५ ॥

[यदि कहो कि आत्मा का दुःखित्वादि प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अ प्रत्यक्ष-प्रमाण के बल से उसका श्रुत्युक्त निर्दुःखत्वादि बाधित हो जायग ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] दुःख देहाभिमानी को ही होता है, देहाभि हीन आत्मा को स्वभाव से ही दुःख नहीं देखा गया, जैसा कि सुषुप्ति अतः उस देहाभिमान के निराकरण के लिये श्रुति ने साक्षी आत्मा को 'तू है' ऐसा उपदेश किया है ॥ ५ ॥

दृशेश्छाया यदारूढा मुखच्छायेव दर्शने ।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते ॥ ६ ॥

[यदि कहो कि ऐसे लोग भी देखे जाते हैं कि जिन्हें 'तत्त्वमसि' आ महावाक्यों के अर्थ ज्ञान द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो गया तथापि उन्हें भी 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। अ देहाभिमान दुःखादिका कारण नहीं है—तो इस सम्बन्ध में ऐसा सम चाहिये कि] जिस प्रकार दर्पणादि में मुख की छाया पड़ती है उसी प्रकार जि साक्षी आत्मा का आभास पड़ता है उस अहंप्रत्यय को देखकर ही कोई योगी 'मुझे आत्मसाक्षात्कार हो गया' ऐसा मान लेते हैं[1] ॥ ६ ॥

तं च मूढं च यद्यन्यं प्रत्ययं वेत्ति नो दृशेः ।
स एव योगिनां श्रेष्ठो नेतरः स्यान्न संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष उस उपाधिभूत अहंकार, मोहात्मक अविवेक और अन्य [उप गत दुःखादि] प्रत्ययों को साक्षी आत्मा में नहीं देखता, वही तत्त्वदर्शियों प्रियतम है और कोई नहीं—इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥

१ अतः जिस प्रकार दर्पणगत मलिनता के कारण मूर्ख लोग मुख को म मानने लगते हैं उसी प्रकार अहंप्रत्ययगत दुःखित्वादि का वे आत्मा में अ करते हैं। उन्हें वस्तुतः सर्वप्रत्ययशून्य असंग एवं शुद्ध आत्मा का अ नहीं होता।

विज्ञातेर्यस्तु विज्ञाता स त्वमित्युच्यते यतः ।
स स्यादनुभवस्तस्य ततोऽन्योऽनुभवो मृषा ॥ ८ ॥

[यहाँ यह शंका होती है कि यदि सब लोगों को आत्मस्वरूप से प्रतीत होनेवाला अहंकार अनात्मा होने के कारण त्याज्य है तो 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके त्वं पद का वाच्य कोई पदार्थ नहीं रहता, शुद्ध चिन्मात्र तो तत्पद का अर्थ हो जाता है; अतः त्वं पद व्यर्थ सिद्ध होता है। इसका समाधान आचार्य इस प्रकार करते हैं—] क्योंकि जो विज्ञाति का विज्ञाता [अर्थात् सम्पूर्ण विशिष्ट ज्ञानों का प्रकाशक] है वही 'त्वम्' इस पद से कहा गया है; अतः उस त्वं पद का यथार्थ अनुभव तो वही है, उससे भिन्न जो अनुभव है वह तो मिथ्या है ॥८॥

दृशिरूपे सदानित्ये दर्शनादर्शने मयि ।
कथं स्यातां ततो नान्य इष्यतेऽनुभवस्ततः ॥ ९ ॥

मैं जो सर्वदा नित्य साक्षिस्वरूप हूँ उसमें [आगमापायी] ज्ञान और अज्ञान कैसे रह सकते हैं। अतः उस आत्मस्वरूप से भिन्न उसका कोई और अनुभव इष्ट नहीं है ॥ ९ ॥

यत्स्थस्तापो रवेर्देहे दृशेः स विषयो यथा ।
सत्त्वस्थस्तद्वदेवेह दृशेः स विषयस्तथा ॥ १० ॥

जिस प्रकार शरीर के जिस भाग में सूर्य के ताप का संयोग होता है वहीं पर वह साक्षी का विषय होता है उसी प्रकार व्यवहारकाल में अन्तःकरण स्थित दुःखादि आत्मा के विषय होते हैं ॥ १० ॥

प्रतिषिद्धेदमंशो ज्ञः खमिवैकरसोऽद्वयः ।
नित्यमुक्तः सदा शुद्धः सोऽहं ब्रह्मास्मि केवलः ॥ ११ ॥

जिसमें इदमंश का बाध हो गया है तथा जो चेतनस्वरूप, आकाश के समान एकरस, अद्वितीय, नित्यमुक्त और सर्वदा शुद्धस्वरूप है वह केवल ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ११ ॥

विज्ञातुर्नैव विज्ञाता परोऽन्यः संभवत्यतः ।
विज्ञाताहं परो मुक्तः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ १२ ॥

सबके विज्ञाता आत्मा का उससे भिन्न कोई और विज्ञाता होना नहीं है। अतः सम्पूर्ण भूतों में सर्वदा विद्यमान मैं ही मुक्तस्वरूप विज्ञाता हूँ ॥ १२ ॥

यो वेदालुप्तदृष्टित्वमात्मनोऽकर्तृतां तथा ।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥ १३ ॥

जो ब्रह्मज्ञता के अभिमान को छोड़कर[१] आत्मा के अलुप्त चैतन्यत्व अकर्तृत्व को जानता है वही आत्मज्ञ है, और कोई नहीं ॥ १३ ॥

ज्ञातैवाहमविज्ञेयः शुद्धो मुक्तः सदेत्यपि ।
विवेकी प्रत्ययो बुद्धेर्दृश्यत्वान्नाशवान्यतः ॥ १४ ॥

क्योंकि 'मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञेय नहीं हूँ तथा शुद्ध, मुक्त और सत्स्वरूप' ऐसा जो बुद्धि का विवेकी प्रत्यय है वह दृश्य होने के कारण नाशवान् [इसलिए बोधवान् में आत्मज्ञ होने के अभिमान के लिये अ नहीं है][२] ॥ १४ ॥

अलुप्ता त्वात्मनो दृष्टिर्नोत्पाद्या कारकैर्यतः ।
दृश्यया चान्यया दृष्ट्या जन्यतास्याः प्रकल्पिता ॥ १५ ॥

---

१ ब्रह्मज्ञता का अभिमान भी अज्ञान-जनित ही है, क्योंकि ब्रह्म वह ज्ञेयवस्तु ही नहीं है, फिर उसके ज्ञान का अभिमान कौन करेगा ?

२ तात्पर्य यह है कि ब्रह्मात्मैक्यसम्बन्धिनी बोधवृत्ति भी अन्तःकरण होने के कारण अज्ञानजनित ही है। अतः बोधवान् में उसका रहना भी नहीं है। जिस प्रकार मलिन जल में डाला हुआ कतकरेणु उसके समस्त मल बैठाकर स्वयं भी बैठ जाता है उसी प्रकार यह बोधवृत्ति भी अज्ञान का करने के अनन्तर स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

आत्मा की चिन्मयी दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह कर्तादि-कारकों द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती। अन्य दृश्यभूता बुद्धिवृत्ति के द्वारा इसकी जन्यता की कल्पना हो जाती है[1] ॥ १५ ॥

देहात्मबुद्ध्यपेक्षत्वादात्मनः कर्तृता मृषा।
नैव किंचित्करोमीति सत्या बुद्धिः प्रमाणजा ॥ १६ ॥

आत्मा का कर्तृत्व देहात्मबुद्धि की अपेक्षावाला होने के कारण मिथ्या है। अतः 'मैं कुछ भी नहीं करता' यह प्रमाणजनित ज्ञान ही सत्य है ॥ १६ ॥

कर्तृत्वं कारकापेक्षमकर्तृत्वं स्वभावतः।
कर्ता भोक्तेति विज्ञानं मृषैवेति सुनिश्चितम् ॥ १७ ॥

कर्तृत्व तो कारकों की अपेक्षा से होता है किन्तु आत्मा का अकर्तृत्व स्वाभाविक है। अतः मैं कर्ता-भोक्ता हूँ ऐसा विज्ञान मिथ्या ही है—यही निश्चित सिद्धान्त है ॥ १७ ॥

एवं शास्त्रानुमानाभ्यां स्वरूपेऽवगते सति।
नियोज्योऽहमिति ह्येषा सत्या बुद्धिः कथं भवेत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शास्त्र और अनुमान द्वारा स्वरूप का बोध हो जाने पर 'मैं नियोज्य (कर्मविधि द्वारा प्रवृत्त किये जाने योग्य) हूँ'—ऐसी बुद्धि सत्य कैसे हो सकती है ॥ १८ ॥

यथा सर्वान्तरं व्योम व्योम्नोऽप्यभ्यन्तरो ह्यहम्।
निर्विकारोऽचलः शुद्धोऽजरो मुक्तः सदाऽद्वयः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार आकाश सबमें ओतप्रोत है उसी प्रकार मैं आकाश के भी अन्तर्गत तथा निर्विकार, अचल, अजर, शुद्ध, मुक्त, नित्य और अद्वयस्वरूप हूँ ॥ १९ ॥

---

१ जिस प्रकार घटादि जन्यपदार्थों की सत्ता कारकों के अधीन है उस प्रकार आत्म चैतन्य कारकाधीन नहीं है। अतः वह स्वयं सिद्ध और नित्य है। किन्तु जैसे घट की उत्पत्ति से घटाकाश की उत्पत्ति मान ली जाती है उसी प्रकार बुद्धिवृत्तिरूप उपाधि के कारण आत्मचैतन्य भी उत्पन्न हुआ सा जान पड़ता है।

अचाक्षुष्ट्वप्रकरण[1] ॥ १३ ॥

अचक्षुष्ट्वान्न दृष्टिर्मे तथाऽश्रोत्रस्य का श्रुतिः ।
अवाक्त्वान्न तु वक्तिः स्यादमनस्त्वान्मतिः कुतः ॥ १ ॥

नेत्रहीन होने के कारण मेरी कोई दृष्टि नहीं है तथा मैं श्रोत्रहीन हूँ, फिर मुझमें श्रवण शक्ति भी क्या हो सकती है ? वाक्य हीन होने के कारण मुझमें वाचनशक्ति भी नहीं है, फिर अमना होने के कारण मुझमें मनन शक्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १ ॥

अप्राणस्य न कर्मास्ति बुद्ध्यभावे न वेदिता ।
विद्याविद्ये ततो न स्तश्चिन्मात्रज्योतिषो मम ॥ २ ॥

मैं प्राणहीन हूँ, इसलिए मेरा कोई कर्म नहीं है तथा बुद्धि का अभाव होने के कारण मेरा ज्ञातृत्व नहीं है। और इसीसे मुझ चिन्मात्रज्योतिस्वरूप में ज्ञान और अज्ञान भी नहीं हैं ॥ २ ॥

नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य कूटस्थस्याविचालिनः ।
अमृतस्याक्षरस्यैवमशरीरस्य सर्वदा ॥ ३ ॥
जिघत्सा वा पिपासा वा शोकमोहौ जरामृती ।
न विद्यन्तेऽशरीरत्वाद्व्योमवद्व्यापिनो मम ॥ ४ ॥

इसी प्रकार मुझ नित्यमुक्त, शुद्ध, कूटस्थ, अविचल, अमृत, अविनाशी और अशरीरी में क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह अथवा जरा और मृत्यु नहीं हैं, क्योंकि मैं शरीररहित तथा आकाश के समान व्यापक हूँ ॥ ३-४ ॥

अस्पर्शत्वान्न मे स्पृष्टिर्नाजिह्वत्वाद्रसज्ञता ।
नित्यविज्ञानरूपस्य ज्ञानाज्ञाने न मे सदा ॥ ५ ॥

[1] इस प्रकरण में आत्मा को सर्वकरणशून्य बतलाते हुए पूर्व प्रकरण में कहे हुए उसके शुद्धत्व और अचलत्वादि को और भी स्फुट करते हैं।

मैं स्पर्शशून्य हूँ इसलिये मुझमें स्पर्शगुण नहीं है, रसनाहीन हूँ इसलिए रसज्ञता नहीं है तथा नित्य विज्ञानस्वरूप होने के कारण मुझमें सर्वदा ही ज्ञान और अज्ञान का अभाव है ॥ ५ ॥

या तु स्यान्मानसी वृत्तिश्चाक्षुष्का रूपरञ्जना ।
नित्यमेवात्मनो दृष्ट्या नित्यया दृश्यते हि सा ॥ ६ ॥

नेत्र के द्वारा उत्पन्न होनेवाली जो रूपविषयिणी मानसी वृत्ति[1] है वह सर्वदा ही आत्मा के नित्य चैतन्य से प्रकाशित होती है ॥ ६ ॥

तथान्येन्द्रिययुक्ता या वृत्तयो विषयाञ्जनाः ।
स्मृती रागादिरूपा च केवलान्तर्मनस्यपि ॥ ७ ॥

इसी प्रकार जो अन्य इन्द्रियों से युक्त विषयाकारा वृत्तियाँ हैं तथा जो [इन्द्रिय संबन्ध शून्य] केवल मन के भीतर ही होने वाली स्मृति एवं रागादि-रूपा वृत्तियाँ हैं [वे भी आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होती हैं] ॥ ७ ॥

मानस्यस्तद्वदन्यस्य दृश्यन्ते स्वप्नवृत्तयः ।
द्रष्टुर्दृष्टिस्ततो नित्या शुद्धानन्ता च केवला ॥ ८ ॥

इन्हीं की तरह जो मन की परिणामभूता स्वप्न वृत्तियाँ हैं वे भी उस से भिन्न आत्मा की ही दृश्य हैं । अतः द्रष्टा की दृष्टि नित्य शुद्ध अनन्त और केवल (अन्यसंसर्गशून्य) है ॥ ८ ॥

अनित्या साऽविशुद्धेति गृह्यतेऽत्राविवेकतः ।
सुखी दुःखी तथा चाहं दृश्ययोपाधिभूतया ॥ ६ ॥

लोग उपाधिभूत दृश्य[2] दृष्टि के साथ अविवेक हो जाने के कारण उसे

१ इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण विषयाकार में परिणत हो जाता है । इस अन्तःकरण के परिणाम का ही नाम वृत्ति है । नेत्रादि इन्द्रियों से होने वाले समस्त ज्ञान तत्तदाकार में परिणत हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही होते हैं ।

२ अन्तःकरण की दृष्टि, क्योंकि वह आत्मचैतन्य की दृश्य है ।

'वह अनित्य और अशुद्ध है' इस प्रकार ग्रहण करते हैं तथा 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' ऐसा समझते हैं ॥ ९ ॥

मूढया मूढ इत्येवं शुद्धया शुद्ध इत्यपि ।
मन्यते सर्वलोकोऽयं येन संसारमृच्छति ॥ १० ॥

यह सम्पूर्ण लोक मूढवृत्ति के साथ अविवेक होने से 'मैं मूढ हूँ' मानने लगता है और शुद्धवृत्ति का संसर्ग होने पर 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा लगता है, जिससे कि उसे संसार की प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अचक्षुष्कादिशास्त्रोक्तं सबाह्याभ्यन्तरं त्वजम् ।
नित्यमुक्तमिहात्मानं मुमुक्षुश्चेत्सदा स्मरेत् ॥ ११ ॥

किन्तु यदि किसी को मोक्ष की इच्छा है तो उसे "अचक्षुष्कमश्रो गमनः" इत्यादि श्रुति द्वारा प्रतिपादित बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा नित्यमुक्त आत्मा का स्मरण करना चाहिये ॥ ११ ॥

अचक्षुष्कादिशास्त्राच्च नेन्द्रियाणि सदा मम ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति चाथर्वणेर्वचः ॥ १२ ॥

अचक्षुष्कादि शास्त्र (बृहदारण्य श्रुति) प्रमाण होने के कारण कभी मेरे इन्द्रियाँ नहीं हैं; और इसी प्रकार "आत्मा प्राणहीन मन हीन एवं शुभ्र" ऐसा अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् का भी वचन है ॥ १२ ॥

शब्दादीनामभावश्च श्रूयते मम काठके ।
अप्राणो ह्यमना यस्मादविकारी सदा ह्यहम् ॥ १३ ॥

कठोपनिषद् में भी मेरे में शब्दादि का अभाव सुना गया है[1] मैं प्राणहीन और मनहीन भी हूँ; अतः मैं सर्वदा ही अविकारी हूँ ॥ १३ ॥

---

१ कठोनिषद् की वह श्रुति इस प्रकार है—
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ (१।३।१५)

विक्षेपो नास्ति तस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ १४ ॥

इसी से [अर्थात् अविकारी होने के ही कारण] मुझे विक्षेप भी नहीं है और विक्षेप न होने के कारण समाधि भी नहीं है। विक्षेप या समाधि तो विकारवान् मन को ही हो सकते हैं ॥ १४ ॥

अमनस्कस्य शुद्धस्य कथं तत्स्याद् द्वयं मम।
अमनस्त्वाविकारित्वे विदेहव्यापिनो मम ॥ १५ ॥

मैं मनःशून्य और शुद्ध हूँ; मुझे वे दोनों (समाधि और विक्षेप) कैसे हो सकते हैं? मेरे में मनःशून्यता और शुद्धता देहहीन और व्यापक होने के कारण हैं ॥ १५ ॥

इत्येतद्यावदज्ञानं तावत्कार्यं ममाभवत्।
नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य बुद्धस्य च सदा मम ॥ १६ ॥

नित्यमुक्त शुद्ध और सर्वदा बोधस्वरूप होने पर भी जब तक मुझे [अपने स्वरूप का] अज्ञान था तब तक ही मेरे लिए ये (समाधि आदि) कर्तव्य थे ॥ १६ ॥

समाधिर्वाऽसमाधिर्वा कार्यं चान्यत्कुतो भवेत्।
मां हि ध्यात्वा च बुद्ध्वा च मन्यन्ते कृतकृत्यताम्॥ १७ ॥

अब [बोध हो जाने पर] मेरे लिये समाधि असमाधि अथवा कोई और कर्तव्य कैसे हो सकता है। मेरा ध्यान करके और मुझे जानकर तो मुमुक्षु लोग कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं ॥ १७ ॥

अहं ब्रह्मास्मि सर्वोऽस्मि शुद्धो बुद्धोऽस्म्यतः सदा।
अजः सर्वत एवाहमजरश्चाक्षयोऽमृतः ॥ १८ ॥

मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्वरूप हूँ; अतः मैं सदा ही निर्विकार और बोध स्वरूप हूँ। सब ओर से अजन्मा तथा अजर-अमर और अक्षय हूँ ॥ १८ ॥

मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥ १९

सम्पूर्ण प्राणियों में मुझसे भिन्न कोई और बोद्धा नहीं है; तथा मैं कर्मों का द्रष्टा, साक्षी, प्रकाशक, नित्य निर्गुण और अद्वय हूँ[1] ॥ १९ ॥

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः।
न मे संध्या न रात्रिर्वा नाहर्वा सर्वदा दृशेः ॥ २० ॥

मैं न सत्[2] हूँ, न असत्[3] हूँ और न [सदसत्] उभयरूप[4] हूँ, केवल (निर्विशेष) शिवस्वरूप (त्रिगुणातीत) हूँ। न मेरे लिये सन्ध्या, रात्रि है और न दिन है, क्योंकि मैं नित्यसाक्षी स्वरूप हूँ ॥ २० ॥

सर्वमूर्तिवियुक्तं यद्यथा खं सूक्ष्ममद्वयम्।
तेनाप्यस्मि विनाभूतं ब्रह्मैवाहं तथाऽद्वयम् ॥ २१ ॥

जिस प्रकार आकाश सब प्रकार के आकारों से रहित, सूक्ष्म एवं अद्वय है उसी प्रकार मैं अद्वय ब्रह्मस्वरूप हूँ और उस आकाश के बिना भी रहता हूँ[5] ॥ २१ ॥

---

१ यहाँ श्वेताश्वतरोपनिषद् की इस श्रुति का अर्थ कहा गया है—
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ (

२ पृथिवी जल और तेज ये तीन व्यक्त भूत।

३ वायु और आकाश—दो अव्यक्त भूत। ४ पञ्चभूतात्मक

५ यहाँ आकाश के साथ ब्रह्म की उपमा दी गयी है। इससे होती है कि ब्रह्म और आकाश का उपमानोपमेयभाव होने के कारण ब्रह्म आकाश की सत्ता सिद्ध होती है, फिर ब्रह्म का अद्वितीयत्व कैसे सिद्ध हो के उत्तर में आचार्य कहते हैं—'तेनाप्यस्मि विनाभूतम्' अर्थात् मैं उस भी वर्तमान रहता हूँ। तात्पर्य यह कि यद्यपि सबसे सूक्ष्म व्यापक एक पर्यन्त विद्यमान रहने के कारण व्यवहार में आकाश को नित्य कहा

ममात्मा स्वत आत्मेति भेदो व्योम्नो यथा भवेत् ।
एकस्य सुपिभेदेन तथा मम विकल्पितः ॥ २२ ॥

जिस तरह छिद्रभेद से एक ही आकाश का भेद हो जाता है उसी तरह रा आत्मा और स्वयं आत्मा' ऐसे भेद की मेरे में कल्पना हो गयी है[1] ॥२२॥

भेदोऽभेदस्तथा चैको नाना चेति विकल्पितः ।
ज्ञेयं ज्ञाता गतिर्गन्ता मय्येकस्मिन्कुतो भवेत् ॥ २३ ॥

भेद-अभेद तथा एक अनेक रूप से मैं ही कल्पित हो रहा हूँ; भला एक में ही ज्ञेय-ज्ञाता एवं फल और फल-भोक्ता की कल्पना कैसे हो ती है ? ॥ २३ ॥

न मे हेयं न चादेयमविकारी यतो ह्यहम् ।
सदा मुक्तस्तथा शुद्धः सदा बुद्धोऽगुणोऽद्वयः ॥ २४ ॥

मुझे न कुछ त्याज्य है, न ग्राह्य, क्योंकि मैं अविकारी, नित्यमुक्त, शुद्ध, नित्य-स्वरूप, निर्गुण और अद्वितीय हूँ ॥ २४ ॥

इत्येवं सर्वदात्मानं विद्यात्सर्वं समाहितः ।
विदित्वा मां स्वदेहस्थमृषिर्मुक्तो ध्रुवो भवेत् ॥ २५ ॥

(इस प्रकार सर्वदा समाहित चित्त से सबको आत्मस्वरूप जाने और े देह में स्थित मुझको जानकर वह ऋषि (सर्वदर्शी) निश्चय ही हो जाय ॥ २५ ॥

पि कल्पान्त में उसकी स्थिति न रहने के कारण वह वस्तुतः नित्य नहीं है; र्थतः नित्य तो ब्रह्म ही है, क्योंकि वह सृष्टि और प्रलय दोनों ही समय न रूप से रहता है ।

१ पूर्व श्लोक में ब्रह्म की पूर्णता प्रतिपादन करके इस श्लोक द्वारा उसमें त औपाधिक भेद का वर्णन किया है ।

कृतकृत्यश्च सिद्धश्च योगी ब्राह्मण एव च।
य एवं वेद तत्त्वार्थमन्यथा ह्यात्महा भवेत् ॥ २६ ॥

जो इस परमार्थ तत्त्व को इस प्रकार जानता है वही कृतकृत्य, सिद्ध और [वास्तविक] ब्राह्मण भी है; अन्यथा पुरुष आत्मघाती ही होता है।

वेदार्थो निश्चितो ह्येष समासेन मयोदितः।
संन्यासिभ्यः प्रवक्तव्यः शान्तेभ्यः शिष्टबुद्धिना ॥ २७ ॥

यह मैंने वेद का निश्चित अर्थ संक्षेप से कहा। शिष्ट बुद्धि[1] पु… इसका उपदेश शमादि साधन सम्पन्न संन्यासियों के प्रति करना चाहिये।

स्वप्नस्मृतिप्रकरण[2] ॥ १४ ॥

स्वप्नस्मृत्योर्घटादेर्हि रूपाभासः प्रदृश्यते।
पुरा नूनं तदाकारा धीर्दृष्टेत्यनुमीयते ॥ १ ॥

स्वप्न और स्मृति के समय घटादि का केवल रूपाभास देखा … इससे यह अनुमान किया जाता है कि पहले निश्चय ही घटाकार… अनुभव किया होगा ॥ १ ॥

भिक्षामटन्यथा स्वप्ने दृष्टो देहो न स स्वयम्।
जाग्रद्दृश्यात्तथा देहाद् द्रष्टृत्वादन्य एव सः ॥ २ ॥

१ शास्त्र और आचार्य द्वारा जिसकी बुद्धि सुशिक्षित है।

२ पूर्व प्रकरण में यह दिखलाया गया था कि संसार की प्रतीति … करण के साथ आत्मा का अविवेक होने के कारण है, स्वतः नहीं है। … होती है कि संसार प्रत्यक्ष है और अन्तःकरण परोक्ष; अतः बुद्धि के … कारण संसार की प्रतीति नहीं हो सकती। इस शंका की निवृत्ति के … प्रकरण में अन्तःकरण का प्रत्यक्षत्व प्रतिपादन करते हुए पूर्वोक्त सि… युक्तिपूर्वक सिद्ध किया जाता है।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में भिक्षाटन करते हुए दीखनेवाला देह स्वयं स्वप्न-द्रष्टा नहीं होता उसी प्रकार जाग्रदवस्था में दिखायी देनेवाले देह से भी वह, द्रष्टा होने के कारण भिन्न ही है ॥ २ ॥

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥ ३ ॥

जैसा साँचे में डाला हुआ ताँबा तदाकार हो जाता है उसी प्रकार रूपादि को व्याप्त करनेवाला चित्त निश्चय ही तद्रूप हो जाता है ॥ ३ ॥

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥ ४ ॥

अथवा जैसे पदार्थ को व्यक्त करनेवाला प्रकाश अपने प्रकाश्य के आकार में परिणत हो जाता है उसी प्रकार समस्त पदार्थों को व्यक्त करनेवाली होने से बुद्धि भी पदार्थाकारा होती देखी जाती है[1] ॥ ४ ॥

धीरेवार्थस्वरूपा हि पुंसा दृष्टा पुरापि च ।
न चेत्स्वप्ने कथं पश्येत्स्मरतो वा कृतिः कुतः ॥ ५ ॥

[स्वप्न और स्मृति के] पूर्व भी पुरुष ने पदार्थाकारा बुद्धि को ही देखा गया है; नहीं तो वह स्वप्न में [संकल्पमय पदार्थों को] कैसे देखता और स्मरण करने से ही पदार्थों की रचना कैसे हो जाती ? ॥ ५ ॥

व्यञ्जकत्वं तदेवास्या रूपाद्याकारदृश्यता ।
द्रष्टृत्वं च दृशेस्तद्वद् व्याप्तिः स्याद्धिय उद्भवे ॥ ६ ॥

बुद्धि रूपादि आकार में परिणत होकर दर्शन योग्यता को प्राप्त होती है,

१ अर्थात् जैसे लोह पिण्ड का प्रकाशक अग्नि तदाकार हो जाता है उसी प्रकार घटादि की प्रकाशिका बुद्धि भी घटाद्याकारा हो जाती है ।

यही इसका विषय को प्रकाशित करना है; तथा बुद्धि का उदय होने पर आत्मा का उसे व्याप्त कर लेना ही द्रष्टृत्व है[१] ॥ ६ ॥

चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
मया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम् ॥ ७ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण शरीरों में सारी बुद्धियाँ चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप मेरे द्वारा प्रकाशित होती हैं, अतः मैं सभी का आत्मा (स्वरूप) हूँ ॥ ७ ॥

करणं कर्म कर्ता च क्रिया स्वप्ने फलं च धीः ।
जाग्रत्येवं यतो दृष्टा द्रष्टा तस्मादतोऽन्यथा ॥ ८ ॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में करण, कर्म, कर्ता, क्रिया और फल बुद्धि मात्र ही हैं उसी प्रकार वे जाग्रदवस्था में भी हैं, क्योंकि वे सब दृष्ट (दिखाई देनेवाले) हैं। अतः द्रष्टा इन सबसे भिन्न है ॥ ८ ॥

बुध्यादीनामनात्मत्वं हेयोपादेयरूपतः ।
हानोपादानकर्तात्मा न त्याज्यो न च गृह्यते ॥ ९ ॥

बुद्धि आदि पदार्थ ग्राह्य एवं त्याज्य होने के कारण अनात्मा हैं;

---

१ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार क्यारी में गया हुआ जल उसी के आकार वाला हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय रूप मार्गद्वारा विषय देश में गई हुई अन्तःकरण की वृत्ति विषय को व्याप्त कर उसी के आकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार विषयाकार में परिणत हुई बुद्धि को कूटस्थ आत्मा प्रकाशित करता है। बुद्धि परिच्छिन्न है, वह विषय देश में विद्यमान नहीं है इसलिये विषय को व्याप्त करने से तदाकारा हो जाती है, किन्तु आत्मा निर्विकार है; वह बुद्धि और विषय देश में समान रूप से विद्यमान है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। विषय का स्फुरण बुद्धि के परिणाम से है, किन्तु विषय ज्ञान का स्फुरण आत्म चैतन्य से ही होता है। विषय विषयाकारा बुद्धि है, अतः वह आत्मा की दृश्य है और आत्मा उसका द्रष्टा

इनका त्याग और ग्रहण करनेवाला आत्मा[1] न तो त्याज्य है और न ग्रहण ही किया जाता है ॥ ९ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे शुद्धे प्रज्ञानैकरसे घने।
बाह्यमाभ्यन्तरं चान्यत्कथं हेयं प्रकल्प्यते ॥ १० ॥

जो आत्मा बाह्य और अभ्यन्तर सहित [अर्थात् सर्वत्र विद्यमान], शुद्ध, एक मात्र विज्ञान रस स्वरूप और निरवकाश है उसमें बाह्य और आभ्यन्तर रूप किसी अन्य हेय [या उपादेय] की कल्पना कैसे की जाती है ॥ १० ॥

य आत्मा नेतिनेतीति परापोहेन शेषितः।
स चेद् ब्रह्मविदात्मेष्टो यतेतातः परं कथम् ॥ ११ ॥

जो आत्मा 'यह स्थूल देह आत्मा नहीं है, यह सूक्ष्म देह आत्मा नहीं है।' इस प्रकार अनात्म वर्ग के निराकरण द्वारा अवशिष्ट रक्खा जाता है, यदि ब्रह्मवेत्ता को वही आत्मा इष्ट है तो ऐसा हो जाने पर वह उसकी प्राप्ति के लिये फिर क्यों प्रयत्न करेगा ॥ ११ ॥

अशनायाद्यतिक्रान्तं ब्रह्मैवास्मि निरन्तरम्।
कार्यवान्स्यां कथं चाहं विमृजेदेवमञ्जसा ॥ १२ ॥

मैं क्षुधा-पिपासादि से रहित सर्वदा ब्रह्मस्वरूप ही हूँ, फिर मैं क्रियावान् कैसे हो सकता हूँ—इस प्रकार यथार्थ विचार करना चाहिये ॥ १२ ॥

पारगस्तु यथा नद्यास्तत्स्थः पारं यियासति।
आत्मज्ञश्चेत्तथा कार्यं कर्तुमन्यदिहेच्छति ॥ १३ ॥

यदि कोई आत्मज्ञ है तो फिर उसका किसी अन्य कार्य करने की इच्छा करना ऐसा ही है जैसे नदी के पार जानेवाला पुरुष उस तट पर स्थित होकर

---

१ बुद्धि आदि का अधिष्ठान होने के कारण आत्मा को त्याग और ग्रहण करनेवाला कहा है।

पार जाने की इच्छा करे [तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान हो जाने पर कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं रहता] ॥ १३ ॥

आत्मज्ञस्यापि यस्य स्याद्धानापादानता यदि ।
न मोक्षार्हः स विज्ञेयो वान्तोऽसौ ब्रह्मणा ध्रुवम् ॥ १४ ॥

यदि आत्मज्ञानी होने पर भी किसी पुरुष को त्याग और ग्रहण रहती है तो उसे मोक्ष का पात्र नहीं समझना चाहिये। उसे निश्चय ही ब्र वमन[1] कर दिया है ॥ १४ ॥

सादित्यं हि जगत्प्राणस्तस्मान्नाहर्निशैव वा ।
प्राणज्ञस्यापि न स्यातां कुतो ब्रह्मविदोऽद्वये ॥ १५ ॥

क्योंकि सूर्य के सहित सम्पूर्ण जगत् हिरण्य गर्भरूप है; अतः प्राणो की दृष्टि में भी न दिन होता है और न रात्रि ही। फिर ब्रह्मवेत्ता के अ स्वरूप में जगत् की सत्ता कैसे रह सकती है[2] ॥ १५ ॥

---

१ ब्रह्म ने वमन कर दिया है अर्थात् त्याग दिया है। जिस प्रकार की हुई वस्तु फिर ग्रहण नहीं की जाती उसी प्रकार वह भी ब्रह्म स्वीकृ किया जा सकता, अर्थात् वह ब्रह्म में लीन होकर मोक्षानन्द का अनुभ कर सकता। वस्तुतः ऐसे पुरुषों को ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता; दृढ़ अपरोक्ष हो जाता है वे तो आप्तकाम और कृतकृत्य हो जाते हैं, उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य या कर्तव्य नहीं रहता।

२ प्राण, सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ—ये पर्याय शब्द हैं। जो पुरुष हूँ' ऐसी उपासना करता है उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् प्राणस्वरूप हो है। श्रुति में प्राण और सूर्य का भी अभेद दिखलाया है। अतः उदयास्त रहित सूर्य रूप हो जाने के कारण उसकी दृष्टि में निरन्तर दिन ही श्रुति कहती है 'न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै फिर जो साक्षात् ब्रह्मवेत्ता है उसके विषय में तो कहना ही क्या है ?

न स्मरत्यात्मनो ह्यात्मा विस्मरेद्वाप्यलुप्तचित् ।
मनोऽपि स्मरतीत्येतज्ज्ञानमज्ञानहेतुजम् ॥ १६ ॥

जिसकी चिन्मयी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती वह आत्मा न कभी आत्मा का स्मरण करता है और न उसे भूलता है, मन ही आत्मा का स्मरण करता है—ऐसा ज्ञान भी अज्ञान के ही कारण है ॥ १६ ॥

ज्ञातुर्ज्ञेयः परो ह्यात्मा सोऽविद्याकल्पितः स्मृतः ।
अपोढे विद्यया तस्मिन्रज्ज्वां सर्प इवाद्वयः ॥ १७ ॥

यदि परात्मा ज्ञाता का ज्ञेय[1] है तो उसे अविद्याकल्पित मानना चाहिये। रज्जु में कल्पित सर्प के समान विद्या के द्वारा उस (अविद्या) की निवृत्ति होने पर तो आत्मा अद्वयस्वरूप ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

कर्तृकर्मफलाभावात्सबाह्याभ्यन्तरं ह्यजम् ।
ममाहं वेति यो भावस्तस्मिन्कस्य कुतो भवेत् ॥ १८ ॥

कर्ता कर्म और फल का अभाव होने के कारण मैं बाहर और भीतर के सहित अजन्मा आत्मा ही हूँ। उस मेरे में ममता किंवा अहंता ऐसी प्रतीति किसी को कैसे हो सकती है? ॥ १८ ॥

आत्मा ह्यात्मीय इत्येष भावोऽविद्याप्रकल्पितः ।
आत्मैकत्वे ह्यसौ नास्ति बीजाभावे कुतः फलम् ॥ १९ ॥

आत्मा (देहादि) और आत्मीय (आत्मसम्बन्धी)—ऐसा भाव भी अविद्या द्वारा कल्पना किया हुआ है। आत्मा का एकत्व निश्चय हो जाने पर यह नहीं रहता; भला बीज का अभाव हो जाने पर फल कहाँ से हो सकता है? ॥ १९ ॥

---

1 क्योंकि जो कुछ ज्ञेय है वह दृश्यरूप होने के कारण जड़ और अविद्या-जनित माना जाता है।

द्रष्टृ श्रोतृ तथा मन्तृ विज्ञात्रेव तदक्षरम् ।
द्रष्ट्राद्यन्यन्न तद्यस्मात्तस्माद् द्रष्टाऽहमक्षरम् ॥ २० ॥

द्रष्टा श्रोता मन्ता और विज्ञाता ही वह अक्षर परब्रह्म है, और द्रष्ट्रादिस्वरूप प्रत्यगात्मा उससे भिन्न नहीं है, अतः मैं ही अक्षर ब्रह्म हूँ ॥ २० ॥

स्थावरं जंगमं चैव द्रष्टृत्वादिक्रियायुतम् ।
सर्वमक्षरमेवातः सर्वस्यात्माक्षरं त्वहम् ॥ २१ ॥

क्योंकि द्रष्टृत्वादि क्रियायुक्त सम्पूर्ण स्थावर और जंगम अक्षर ही है, अतः मैं ही सबका आत्मा अविनाशी ब्रह्म हूँ ॥ २१ ॥

अकार्यशेषमात्मानमक्रियात्मक्रियाफलम् ।
निर्ममं निरहंकारं यः पश्यति स पश्यति ॥ २२ ॥

जो क्रिया का अंग, क्रियास्वरूप और क्रिया का फल भी नहीं है, ममता और अहंकार से शून्य है ऐसे आत्मा को जो देखता है वही देखता है ॥ २२ ॥

ममाहंकारयत्नेच्छाः शून्या एव स्वभावतः ।
आत्मनीति यदि ज्ञातमाध्वं स्वस्थाः किमीहितैः ॥ २३ ॥

[हे मुमुक्षुगण !] यदि तुमने यह जान लिया है कि आत्मा में अहंकार, प्रयत्न और इच्छा का स्वभाव से ही अभाव है तो शान्त हो अब [कृतकृत्य हो जाने पर] कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

योऽहंकर्तारमात्मानं तथा वेत्तारमेव च ।
वेत्ति नात्मज्ञ एवासौ योऽन्यथाज्ञः स आत्मवित् ॥ २४ ॥

जो पुरुष आत्मा को अहंकार करनेवाला अथवा ज्ञाता जानता आत्मज्ञानी नहीं हो सकता। जो इससे विपरीत जानता है वही आत्मवेत्ता है

यथान्यत्वेऽपि तादात्म्यं देहादिष्वात्मनो मतम् ।
तथाऽकर्तुरविज्ञानात्फलकर्मात्मताऽऽत्मनः ॥ २५ ॥

जिस प्रकार देहादि से भिन्न होने पर भी [अज्ञानवश] देहादि के साथ आत्मा का तादात्म्य माना जाता है उसी प्रकार अज्ञान से ही अकर्ता आत्मा में क्रियाफल को कर्मता मानी गयी है ॥ २५ ॥

दृष्टिः श्रुतिर्मतिर्ज्ञातिः स्वप्ने दृष्टा जनैः सदा ।
तासामात्मस्वरूपत्वादतः प्रत्यक्षतात्मनः ॥ २६ ॥

स्वप्नावस्था में पुरुषों द्वारा सर्वदा ही दर्शन श्रवण, मनन एवं ज्ञान का अनुभव किया जाता है। क्योंकि ये सब आत्मस्वरूप ही हैं, इससे आत्मा की प्रत्यक्षता सिद्ध होती है[1] ॥ २६ ॥

परलोकभयं यस्य नास्ति मृत्युभयं तथा ।
तस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्युः सब्रह्मेन्द्रा अपीश्वराः ॥ २७ ॥

जिसे परलोक का भय नहीं है और न मृत्यु का ही भय है उस आत्मज्ञ के लिये तो ब्रह्मा एवं इन्द्रादि लोकपालगण भी शोचनीय ही हैं ॥ २७ ॥

ईश्वरत्वेन किं तस्य ब्रह्मेन्द्रत्वेन वा पुनः ।
तृष्णा चेत्सर्वतश्छिन्ना सर्वदैन्योद्भवाऽशुभा ॥ २८ ॥

यदि सब प्रकार की दीनता उत्पन्न करनेवाली अशुभरूपिणी तृष्णा का क्षय हो गया है तो उस पुरुष को ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व से भी क्या लेना है ? ॥२८॥

अहमित्यात्मधीर्या च ममेत्यात्मीयधीरपि ।
अर्थशून्ये यदा यस्य स आत्मज्ञो भवेत्तदा ॥ २९ ॥

जिस समय जिस पुरुष की दृष्टि में 'अहम्' ऐसी आत्मबुद्धि और 'मम' ऐसी आत्मीय बुद्धि निष्प्रयोजन हो जायँ उस समय वही आत्मज्ञ है ॥ २९ ॥

---

१ क्योंकि प्रत्यक्ष केवल ज्ञान ही है, ज्ञेयपदार्थ तो केवल ज्ञान की उपाधियाँ ही हैं। और ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है।

बुद्धयादौ सत्युपाधौ च तथा सत्यविशेषता ।
यस्य चेदात्मनो ज्ञाता तस्य कार्यं कथं भवेत् ॥ ३० ॥

[जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओं में] बुद्धि आदि उपाधियों के रहते तथा [सुषुप्ति में] उनका अभाव हो जाने पर भी जिसे आत्मा की एक का ज्ञान हो गया है उसके लिये कोई कर्त्तव्य कैसे रह सकता है ? ॥ ३० ॥

प्रसन्ने विमले व्योम्नि प्रज्ञानैकरसेऽद्वये ।
उत्पन्नात्मधियो ब्रूत किमन्यत्कार्यमिष्यते ॥ ३१ ॥

स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों से रहित, आकाशस्वरूप, विज्ञा अद्वितीय परब्रह्म में जिसे आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गयी है उस पुरुष बतलाओ, कोई और कर्त्तव्य कैसे रह सकता है ? ॥ ३१ ॥

आत्मानं सर्वभूतस्थममित्रं चात्मनोऽपि यः ।
पश्यन्निच्छत्यसौ नूनं शीतीकर्तुं विभावसुम् ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियों में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करता है तथा कोई शत्रु भी देखता है वह मानो निश्चय ही अग्नि को शीतल चाहता है[1] ॥ ३२ ॥

प्रज्ञाप्राणानुकार्यात्मा छायेवाक्षादिगोचरः ।
ध्यायतीवेति चोक्तो हि शुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥ ३

आत्मा बुद्धि और प्राण का अनुकरण करने वाला है; वह सूर्य प्रतिबिम्ब के समान इन्द्रियादि का विषय होता है, जैसा कि "आत्मा मानो करता है" इत्यादि श्रुति ने कहा है; किन्तु स्वतः तो वह शुद्ध मुक्तस्वरूप है[2] ॥ ३३ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि का शीतल होना असम्भव है प्रकार आत्मज्ञ की दृष्टि में अपना कोई शत्रु दिखायी देना सर्वथा असम्भव

२ जिस प्रकार सूर्यादि का प्रतिबिम्ब जलादि में पड़ने से उनकी चंचलता कारण चलायमान-सा दिखायी देता है उसी प्रकार बुद्धि आदि में प्रति

अप्राणस्यामनस्कस्य तथाऽसंसर्गिणो दृशेः ।
व्योमवद् व्यापिनो ह्यस्य कथं कार्यं भवेन्मम ॥ ३४ ॥

प्राणहीन, मनोहीन, असंसारी एवं आकाश के समान व्यापक मुझ साक्षी को कोई कर्त्तव्य कैसे हो सकता है ? ॥ ३४ ॥

असमाधिं न पश्यामि निर्विकारस्य सर्वता ।
ब्रह्मणो मे विशुद्धस्य शोध्यं नान्यद्विपाप्मनः ॥ ३५ ॥

मैं निर्विकार विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप अपने को कभी कोई विक्षेप नहीं देखता तथा सवरथा निष्पाप होने के कारण कुछ शोधन करने योग्य भी नहीं समझता ॥ ३५ ॥

गन्तव्यं च तथा नैव सर्वगस्याचलस्य च ।
नोर्ध्वं नाधस्तिरो वापि निष्कलस्यागुणत्वतः ॥ ३६ ॥

मैं सर्वगत और निश्चल हूँ, अतः मेरे लिये कोई गन्तव्य देश नहीं है। तथा निर्गुण होने के कारण मैं निरवयव[1] हूँ, इसलिए मेरे में कुछ ऊपर नीचे अथवा इधर-उधर भी नहीं है ॥ ३६ ॥

चिन्मात्रज्योतिषो नित्यं तमस्तस्मिन्न विद्यते ।
कथं कार्यं ममैवाद्य नित्यमुक्तस्य शिष्यते ॥ ३७ ॥

जो सर्वदा चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप है उस आत्मा में अज्ञान भी नहीं है; फिर नित्यमुक्त मेरे लिये अब भी कोई कर्त्तव्य कैसे शेष रह सकता है ? ॥ ३७ ॥

आत्मा उन बुद्धि आदि के ध्यान करने पर ध्यान करता-सा जान पड़ता है; किन्तु वस्तुतः उसमें कोई क्रिया या विकार नहीं है, वह सर्वदा शुद्ध और मुक्त ही है।

१ केवल 'निरवयव' कहने से यह शंका हो सकती थी कि ज्ञान एवं सुखादि गुणात्मक अवयवों वाला होने से आत्मा निरवयव नहीं हो सकता। उसका निराकरण करने के लिये ही 'निर्गुण' होने के कारण ऐसा हेतु दिया है।

अमनस्कस्य का चिन्ता क्रिया वाऽनिन्द्रियस्य का।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति सत्यं श्रुतेर्वचः ॥ ३८ ॥

जो मनोहीन है उसे क्या चिन्ता हो सकती है, और जिसमें इन्द्रि[यों का] अभाव है वह क्या क्रिया कर सकता है? तथा "आत्मा प्राणहीन मनोहीन [एवं] शुद्ध है" यह श्रुति का वचन भी यथार्थ ही है। [अतः वह सर्वचिन्ता शून्य] निष्क्रिय है] ॥ ३८ ॥

अकालत्वाददेशत्वाददिक्त्वादनिमित्ततः।
आत्मनो नैव कालादेरपेक्षा ध्यायतः सदा ॥ ३९ ॥

आत्मा कालहीन, देशहीन, दिशाहीन और निर्निमित्त है; अतः उसका [ध्यान] करनेवाले के लिए सर्वदा ही कालादि की अपेक्षा नहीं है[1] ॥ ३९ ॥

यस्मिन्देवाश्च वेदाश्च पवित्रं कृत्स्नमेकताम्।
व्रजेत्तन्मानसं तीर्थं यस्मिन्स्नात्वाऽमृतो भवेत् ॥ ४० ॥

जिसमें सम्पूर्ण देवगण, वेद और सर्वदा शुद्ध [हरिहरनामोच्चारण] एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं उस मानसतीर्थ[2] में जाना चाहिये, जिसमें [स्नान] करके पुरुष अमर हो जाता है ॥ ४० ॥

न चास्ति शब्दादिरनन्यवेदनः परस्परेणापि न चैव दृश्यते।
परेण दृश्यास्तु यथा रसादयस्तथैव दृश्यत्वत एव दैहिकाः ॥ ४१ ॥

शब्दादि विषय न तो स्वयंप्रकाश है और न [जड़ होने के कारण] परस्पर एक-दूसरे से ही प्रकाशित होते हैं। अतः जिस प्रकार ये (बाह्य) ...

1 जिस प्रकार धर्मानुष्ठान में पूर्वाह्णादि काल, तीर्थस्थानादि पवित्र [देश,] पूर्वादि दिशा तथा सूर्यग्रहणादि निमित्त की अपेक्षा होती है उस प्रकार [स्वरूप] चिन्तन के लिये ऐसे किसी प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है। चलते-फिरते किसी भी समय स्वरूप चिन्तन किया जा सकता है।

2 अन्तःकरण की वेदान्त महावाक्यजनित ब्रह्माकार-वृत्ति यह सं[सार-रूप] महापाप की मूलभूता अविद्या का उच्छेद करने वाली होने से तीर्थरूपा है।

किसी अन्य के दृश्य हैं उसी प्रकार दृश्य होने के कारण शारीरिक रसादि भी परप्रकाश्य ही हैं ॥ ४१ ॥

अहंममेत्येपणयत्नविक्रियासुखादयस्तद्वदिह प्रदृश्यतः ।
दृश्यत्वयोगाच्च परस्परेण ते न दृश्यतां यान्ति ततः परो भवान् ॥४२॥

इन्हीं के समान व्यवहार में दृश्यरूप होने के कारण अहंकार, ममता, इच्छा, यत्न, [कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि] विकार और सुखादि भी स्वयं प्रकाश नहीं हैं, तथा दृश्यत्व के कारण ही ये परस्पर भी प्रकाशित होने वाले नहीं हैं। अतः [इनके संघातरूप लिङ्गदेह से] आप (आत्मस्वरूप) अलग ही हैं ॥ ४२ ॥

अहंक्रियाद्या हि समस्तविक्रिया सकर्तृका कर्मफलेन संहता ।
चितिस्वरूपेण समन्ततोऽर्कवत्प्रकाश्यमानाऽसिततात्मनो ह्यतः॥४३॥

क्योंकि अहंकारादि समस्त विकार सकर्तृक और कर्मफल से संहत हैं तथा सूर्य के समान सर्वथा चेतनस्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होती है; अतः आत्मा की बन्धनशून्यता सिद्ध होती है [क्योंकि जो आत्म चैतन्य से ही प्रकाशित होने वाले हैं वे अहंकारादि उसे कैसे बाँध सकते हैं ?] ॥ ४३ ॥

चितिस्वरूपेण हि सर्वदेहिनां वियद्यथा व्याप्य मनांस्यवस्थितः ।
अतो न तस्मादपरोऽस्ति वेदिता परोऽपि तस्मादत एक ईश्वरः ॥४४॥

क्योंकि आत्मा समस्त देहधारियों के अन्तःकरणों को उनके साक्षीरूप से आकाश के समान व्याप्त करके स्थित है। इसलिये उससे भिन्न कोई और ज्ञाता नहीं है और न उससे भिन्न परमेश्वर ही ज्ञाता है। अतः आत्मा एक ही है ॥४४॥

शरीरबुद्ध्योर्यदि चान्यदृश्यता निरात्मवादाः सुनिराकृता मया ।
तथ शुद्धो ह्यविशुद्धिकर्मतः सुनिर्मलः सर्वगतोऽसितोऽद्वयः ॥४५॥

इस प्रकार यदि शरीर और बुद्धि की परप्रकाश्यता सिद्ध होती है तो [ऐसा करके] मैंने [शून्यवादादि] निरात्मवादों का भली प्रकार निराकरण कर दिया। तथा हिंसादि दोषयुक्त कर्मों से [उनका साक्षी] आत्मा भी भिन्न, शुद्ध, निर्मल, सर्वगत, स्वतन्त्र एवं अद्वितीय है ॥ ४५ ॥

घटादिरूपं यदि तेन गृह्यते मनः प्रवृत्तं बहुधा स्ववृत्तिभिः।
अशुद्ध्यचिद्रूपविकारदोषता मतेर्यथा वारयितुं न पार्यते ॥ ४

[इस पर शंका होती है कि] यदि अपनी वृत्तियों से अनेक आ परिणत होने वाला घटादिरूप मन उस आत्मा से ग्रहण किया जाता है के समान उसके भी [विषयसंसर्गजनित] अशुद्धि, अचित्स्वरूपत विकारिता आदि दोषों का निवारण नहीं किया जा सकता[1] ॥ ४६ ॥

यथा विशुद्धं गगनं निरन्तरं न सज्जते नापि च लिप्यते तथा
समस्तभूतेषु सदैव तेष्वयं समः सदात्मा ह्यजरोऽमरोऽभयः ॥

जिस प्रकार विशुद्ध एवं अपरिच्छिन्न आकाश किसी के साथ संलग्न नहीं होता उसी प्रकार समस्त भूतों में सर्वदा समान भाव से स्थित हु आत्मा जरा, मरण एवं भय से रहित है ॥ ४७ ॥

अमूर्तमूर्तानि च कर्मवासना दृशिस्वरूपस्य बहिः प्रकल्पिताः
अविद्यया ह्यात्मनि मूढदृष्टिभिरपोह्य नेतीत्यवशेषितो दृशि ॥

मूढ दृष्टि पुरुषों द्वारा अविद्यावश आत्मा में [वायु और आक अमूर्त एवं [अग्नि, जल और पृथिवीरूप] मूर्त भूतों तथा कर्मवास आरोप कर लिया गया है। उन चैतन्यस्वरूप आत्मा से बाह्य वस्तुओं नेति' इत्यादि वाक्य से निराकरण कर दिये जाने पर साक्षी ही अ जाता है [अतः उसमें किसी प्रकार के दोष का संसर्ग नहीं है] ॥ ४८

प्रबोधरूपं मनसोऽर्थयोगजं स्मृतौ च सुप्तस्य च दृश्यतोऽर्थव
तथैव देहप्रतिमानतः पृथग्दृशेः शरीरं च मनश्च दृश्यतः ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि दृश्य वस्तु को प्रकाशित करने पर ही किसी कहा जाता है। यदि मन और उसकी वृत्तियाँ आत्मा द्वारा प्रकाशित न आत्मा को द्रष्टा नहीं कहा जा सकता। अतः उनका प्रकाशक होने से उनके संसर्ग से होने वाले दोष की सम्भावना है, इसलिये आत्मा शुद्ध सकता। शिष्य की इस शंका का अगले श्लोकों में निराकरण किया जा

जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई मन की विषयाकार वृत्तिरूपा है तथा स्वप्न और स्मृति के समय [विषय का अभाव रहने पर भी] मन की वृत्ति विषयाकारा-सी दिखायी देती है। [किन्तु आत्मा के दृश्य होने के कारण ये वृत्तियाँ उनसे पृथक् ही हैं; आत्मा की विशेषण नहीं हैं] उसी प्रकार दृश्य होने के कारण शरीर मन एवं देहद्वय का प्रतिभास भी आत्मा से पृथक् ही है। अतः दृश्य मात्र होने के कारण ये शुक्तिरजतादि की भाँति मिथ्या हैं ॥ ४९ ॥

स्वभावशुद्धे गगने घनादिके मलेऽपयाते सति चाविशेषता।
यथा च तद्वत् श्रुतिवारितद्वये सदाऽविशेषो गगनोपमे दृशौ ॥५०॥

जिस प्रकार स्वभाव से ही शुद्ध आकाश में मेघादि मल की निवृत्ति हो जाने पर कोई विशेषता नहीं रहती उसी प्रकार श्रुति के द्वारा जिसमें द्वैत का निराकरण किया गया है उस आकाश सदृश साक्षी में सर्वदा ही विशेषता का अभाव है ॥ ५० ॥

नान्यदन्यत्प्रकरणम् ॥ १५ ॥

नान्यदन्यद्भवेद्यस्मान्नान्यत्किंचिद्विचिन्तयेत् ।
अन्यस्यान्यत्वभावे हि नाशस्तस्य ध्रुवो भवेत् ॥ १ ॥

क्योंकि अन्य (जीव) अन्य (ब्रह्म) नहीं हो सकता, इसलिये मुमुक्षु पुरुष को, ब्रह्म मुझसे कुछ भी भिन्न है—ऐसा चिन्तन नहीं करना चाहिये। यदि अन्य ब्रह्म का अन्य भाव हो जाता है [अर्थात् यदि ऐसा मानें कि ब्रह्म आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है और आत्मा ब्रह्मरूप हो जाता है] तो उसका निश्चय ही नाश हो जाना चाहिये। [क्योंकि परिणामी होने के कारण इससे ब्रह्म की अनित्यता अनिवार्य हो जायगी। इसलिये वस्तुतः आत्मा और ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं है] ॥ १ ॥

स्मरतो दृश्यते दृष्टं पटे चित्रमिवार्पितम् ।
यत्र येन च तौ ज्ञेयौ सत्त्वक्षेत्रज्ञसंज्ञकौ ॥ २ ॥

पहले देखे हुए नील-पीतादि का स्मरण करने वाले पुरुष को वस्त्र में हुए चित्र के समान उन (नील पीतादि वासनाओं) की उपलब्धि होती वह उपलब्धि जहाँ होती है और जिसे होती है उन्हें (क्रमशः) सत्त्व (बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) समझना चाहिए ॥ २ ॥

फलान्तं चानुभूतं यद्युतं कर्त्रादिकारकैः ।
स्मर्यमाणं हि कर्मस्थं पूर्वं कर्मैव तच्चितः ॥ ३ ॥

क्योंकि सुखदुःखादि फल पर्यन्त जिन कर्तृकर्मादि कारक युक्त द्वैत का पहले अनुभव किया था वे अब स्मरण किये जाने पर कर्मस्थ (दृश्यरूप अन्तःकरणादि में स्थित) दिखायी देते हैं, इसलिये पहले भी वे आत्मा के कर्म (दृश्य) ही थे[1] ॥ ३ ॥

द्रष्टुश्चान्यद्भवेद् दृश्यं दृश्यत्वाद्धटवत्सदा ।
दृश्याद् द्रष्टासजातीयो न धीवत्साक्षितान्यथा ॥ ४ ॥

दृश्य पदार्थ घटादि के समान दृश्य होने के कारण ही सर्वदा द्रष्टा से होते हैं; द्रष्टा दृश्य का सजातीय नहीं होता। अन्यथा बुद्धि के समान (दृश्य होने से) उसकी साक्षिता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

स्वात्मबुद्धिमपेक्ष्यासौ विधीनां स्यात्प्रयोजकः ।
जात्यादिः शववत्तेन तद्धानात्मतान्यथा ॥ ५ ॥

१ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्मरण करते समय वासनात्मक द्वैत आश्रय अन्तःकरण में स्थित दिखायी देता है उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था सुख-दुःखादि पर्यन्त जितना कर्तृ-कर्मादिकारकविशिष्ट स्थूल प्रपञ्च है वह अपने आश्रय स्थूल सूक्ष्म शरीर में स्थित ही अनुभव होता था। इस लिये अवस्थाओं में वे आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होने वाले हैं; क्योंकि उनके तो उनके समान हो आत्मा के दृश्य हैं। अतः एक मात्र आत्मा ही शेष सब पदार्थ आत्मा के दृश्य और उसमें अध्यस्त हैं।

शव के समान जाति आदि भी स्वात्मबुद्धि की अपेक्षा से ही विधि की प्रयोजक हैं; वे शव के समान ही (आत्मा का धर्म) नहीं हैं। अन्यथा आत्मा की अनात्मता सिद्ध होगी[1] ॥ ५ ॥

न प्रियाप्रिय इत्युक्तेर्नादेहत्वं क्रियाफलम् ।
देहयोगः क्रियाहेतुस्तस्माद्विद्वान्क्रियास्त्यजेत् ॥ ६ ॥

"[अशरीरी आत्मा को] सुख दुःख स्पर्श नहीं करते" ऐसा श्रुतिका वचन[2] होने के कारण अशरीरत्व कर्म का फल नहीं है; कर्म का फल तो देह के साथ सम्बन्ध होना ही है। अतः विचारवान् को कर्मों का त्याग कर देना चाहिये ॥६॥

कर्मस्वात्मा स्वतन्त्रश्चेन्निवृत्तं च तथेष्यताम् ।
अदेहत्वे फलेऽकार्ये ज्ञाते कुर्यात्कथं क्रियाः ॥ ७ ॥

यदि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है तो उसे उनके त्याग में भी वैसा ही [स्वतन्त्र] समझो। यदि [मोक्षरूप] देह सम्बन्ध शून्य फल कर्म साध्य नहीं है तो ज्ञान हो जाने पर मुमुक्षु पुरुष कर्म क्यों करे? ॥ ७ ॥

जात्यादीन्संपरित्यज्य निमित्तं कर्मणां बुधः ।
कर्महेतुविरुद्धं यत्स्वरूपं शास्त्रतः स्मरेत् ॥ ८ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि कर्मों की निमित्तभूता जाति आदि का सम्यक् प्रकार से त्याग कर कर्मरूप निमित्त से विरुद्ध[3] जो अपना स्वरूप है उसका शास्त्रानुसार चिन्तन करे ॥ ८ ॥

---

१ जिस प्रकार मृतक शरीर में माता-पितादि आत्मीयता का अभ्यास होने के कारण ही उसके संस्कारादि किये जाते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणादि जाति, वृद्धादि अवस्था एवं पिता-पुत्रादि सम्बन्धों में भी आत्मत्व का अभिनिवेश होने से ही वे तदनुसार विधि में प्रवृत्त करने वाले हैं।

२ 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'।

३ 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'—वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करें, इस विधि में ब्राह्मण जाति ही अग्न्याधान में निमित्त है; अतः कर्म में ब्राह्मण जाति

आत्मैकः सर्वभूतेषु तानि तस्मिंश्च खे यथा ।
पर्यगाद् व्योमवत्सर्वं शुक्रं दीप्तिमदिष्यते ॥ ९ ॥

समस्त भूतों में आकाश के समान एक ही आत्मा व्याप्त है तथा वे सब उसी में अध्यस्त हैं, क्योंकि [स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणस्नाविरं शुद्ध विद्धम्'' इस श्रुति के अनुसार] आत्मा आकाश के समान सर्वगत शुभ्र प्रकाशमय माना गया है ॥ ९ ॥

व्रणस्नाय्वोरभावेन स्थूलं देहं निवारयेत् ।
शुद्धापापतयालेपं लिङ्गं चाकायमित्युत ॥ १० ॥

[पूर्वोक्त 'स पर्यगात्' इत्यादि श्रुति में] व्रण और स्नायु का अभाव कर स्थूल देह का निराकरण किया है, शुद्ध और निष्पाप कह कर उसे शुद्ध बतलाया है तथा अकाय (अशरीर) कहकर सूक्ष्म शरीर का बाध किया है।

वासुदेवो यथाऽश्वत्थे स्वदेहे चाब्रवीत्समम् ।
तद्वद्वेत्ति य आत्मानं समं स ब्रह्मवित्तमः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार भगवान् वासुदेव ने ['अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' और 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' ऐसा कहकर] अश्वत्थ (पीपल) और अपने शरीर में समान सत्ता बतलायी है उसी प्रकार जो अपने आत्मा को समस्त (उपाधि) वैषम्य से रहित देखता है वही ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है ॥११॥

यथा ह्यन्यशरीरेषु ममाहन्ता न चेष्यते ।
अस्मिंश्चापि तथा देहे धीसाक्षित्वाविशेषतः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार अन्य शरीरों में ममता और अहन्ता इष्ट नहीं हैं उसी

ही निमित्त हुई । किन्तु शुद्ध आत्मा में कोई जाति आदि है नहीं । उसे कर्म के निमित्त से विरुद्ध कहा गया है ।

१ अर्थात् वह आत्मा सर्वगत, शुभ्र, अशरीरी, अक्षत, स्नायु आदि से शून्य, शुद्ध और पापशून्य है ।

इस शरीर में भी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दोनों ही शरीरों में आत्मा का बुद्धि-साक्षित्व समान है। [अतः आत्मतत्त्व का विचार करने में अहङ्कारादि को अवकाश न होने के कारण सर्वत्र समानरूप से आत्मदर्शन करना उचित है] ॥ १२ ॥

रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषौ भयं च यत्।
गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाता शुद्धोऽभयः सदा ॥ १३ ॥

[यदि कहो कि राग द्वेष एवं भय आदि उपलब्ध होने के कारण आत्मामें अभिमान का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता तो ऐसा समझना चाहिये कि] ये जो राग द्वेष और भय हैं वे तो नीलादि रूप संस्कार के समान आश्रय वाले हैं, क्योंकि बुद्धि के ही आश्रित देखे जाते हैं। अतः उनका साक्षी आत्मा तो सर्वदा शुद्ध और भय शून्य है ॥ १३ ॥

यन्मनास्तन्मयोऽन्यत्वे नात्मत्वाद्धि क्रियात्मनि।
आत्मत्वे चानपेक्षत्वात्सापेक्षं हि न तत्स्वयम् ॥ १४ ॥

यदि ध्याता और ध्येय का भेद रहता है तो ध्याता जिस प्रकार के ध्येय (देवादि) में मन लगाता है तद्रूप ही हो जाता है; किन्तु आत्मप्राप्ति के लिये आत्मा में किसी (ध्यानादि) क्रिया की अपेक्षा नहीं है। मोक्षस्वरूप ब्रह्म आत्मा होने के कारण किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं करता। यदि उसे सापेक्ष माना जाय तो वह स्वयं आत्मस्वरूप नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

स्वमिवैकरसा ज्ञप्तिरविभक्ताऽजराऽमला।
चक्षुराद्युपधानात्सा विपरीता विभाव्यते ॥ १५ ॥

आत्मा के समान ज्ञान भी एक रस, निर्विभाग, जराशून्य और निर्मल है। चक्षु आदि उपाधियों के कारण ही वह इससे विपरीत स्वभाववाला जान पड़ता है[1] ॥ १५ ॥

१ जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक जपाकुसुमादि की सन्निधि के कारण रक्तादि वाला प्रतीत होता है तथा एक ही व्यापक आकाश घटादि उपाधियों के

दृश्यत्वादहमित्येष नात्मधर्मो घटादिवत् ।
तथान्ये प्रत्यया ज्ञेया दोषाश्चात्माऽमलो ह्यतः ॥ १६ ॥

दृश्यरूप होने के कारण 'मैं' ऐसी प्रतीति घटादि के समान आ[त्मा का] धर्म नहीं है । इसी प्रकार अन्य प्रतीति और रागद्वेषादि दोषों को भी [समझना] चाहिये । अतः आत्मा तो निर्मल ही है ॥ १६ ॥

सर्वप्रत्ययसाक्षित्वादविकारी च सर्वगः ।
विक्रियेत यदि द्रष्टा बुद्ध्यादीवाल्पविद्भवेत् ॥ १७ ॥

समस्त प्रतीतियों का साक्षी होने के कारण आत्मा अविकारी और [सर्वगत] है । यदि साक्षी आत्मा में भी विकार हो तो वह बुद्धि आदि के समान [अल्पज्ञ] ही होगा ॥ १७ ॥

न दृष्टिर्लुप्यते द्रष्टुश्चक्षुरादेर्यथैव तत् ।
नहि द्रष्टुरिति ह्युक्तं तस्माद् द्रष्टा सदैकदृक् ॥ १८ ॥

नेत्रादि की दृष्टि के समान द्रष्टा आत्मा की दृष्टि का कभी लोप नहीं [होता ।] इसी से [1]श्रुति ने भी कहा है "अविनाशी होने के कारण द्रष्टा की दृष्टि[का लोप] नहीं होता ।" अतः द्रष्टा सर्वदा एकरूप से द्रष्टृस्वभाव है ॥ १८ ॥

संघातो वास्मि भूतानां करणानां तथैव च ।
व्यस्तं वान्यतमो वास्मि को वास्मीति विचारयेत् ॥ [१९ ॥]

अतः मुमुक्षुको ऐसा विचार करना चाहिये कि क्या मैं भूतों का [संघात] स्थूल शरीर हूँ अथवा इन्द्रियों का सङ्घात हूँ । [यदि मैं इन्द्रियों [का संघात] हूँ तो] क्या मैं अलग-अलग प्रत्येक इन्द्रिय हूँ अथवा उनमें से कोई [एक, या] उनसे भिन्न कोई और हूँ ? और [यदि कोई और] हूँ तो कौन हूँ ? [॥ १९ ॥]

कारण विभक्त-सा जान पड़ता है उसी प्रकार एक ही शुद्ध ज्ञान [के] आत्मस्वरूप ही है नेत्रादि उपाधियों के कारण रूप-रसादि विभिन्न [से] जान पड़ता है ।

१ 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' ।

व्यस्तं नाहं समस्तं वा भूतमिन्द्रियमेव वा ।
ज्ञेयत्वात्करणत्वाच्च ज्ञातान्योऽस्माद्घटादिवत् ॥ २० ॥

[विचार करने पर यह निश्चय होगा कि] मैं न भूत हूँ न इन्द्रिय हूँ, तथा न व्यस्त हूँ न समस्त हूँ, क्योंकि ये सब घटादि के समान ज्ञेय और करण-रूप हैं। अतः इनका ज्ञाता मैं इनसे भिन्न हूँ ॥ २० ॥

आत्माग्नेरिन्धना बुद्धिरविद्याकामकर्मभिः ।
दीपिता प्रज्वलत्येषा द्वारैः श्रोत्रादिभिः सदा ॥ २१ ॥

बुद्धि आत्मारूपी अग्नि का ईंधन है। यह अविद्या, काम और कर्मों से दीपित होकर सर्वदा श्रोत्रादि के द्वारा प्रज्वलित होता है ॥ २१ ॥

दक्षिणाक्षिप्रधानेषु यदा बुद्धिर्विचेष्टते ।
विषयैर्हविषा दीप्ता ह्यात्माग्निः स्थूलभुक्तदा ॥ २२ ॥

जिस समय विषयरूपी हवि से दीप्त हुई बुद्धि दक्षिण नेत्रादि इन्द्रियों में चेष्टा करती है उस समय आत्मारूप अग्नि स्थूल विषयों का भोक्ता होता है। [अर्थात् इसे जाग्रदवस्था कहा जाता है] ॥ २२ ॥

हूयन्ते तु हवींषीति रूपादिग्रहणे स्मरन् ।
अरागद्वेष आत्माग्नौ जाग्रद्दोषैर्न लिप्यते ॥ २३ ॥

उस समय रूपादि विषयों को ग्रहण करते हुए जो राग-द्वेष से रहित हो ऐसा स्मरण रखता है कि ये आत्माग्नि में हवि द्वारा होम किया जा रहा है वह पुरुष जाग्रत् अवस्था के दोषों से लिप्त नहीं होता ॥ २३ ॥

मानसे तु गृहे व्यक्तः सोऽविद्याकर्मवासनाम् ।
पश्यंस्तैजस आत्मोक्तः स्वयंज्योतिः प्रकाशिता ॥ २४ ॥

फिर मनरूप गृह में अभिव्यक्त होकर अविद्याजनित कर्मवासना को देखने के कारण आत्मा तैजस कहा जाता है। उस समय स्वयंज्योति आत्मा ही विषयों का प्रकाशक होता है। [क्योंकि उस अवस्था में सूर्यादि बाह्यज्योतियों का अभाव रहता है] ॥ २४ ॥

विषया वासना वापि चोद्यन्ते नैव कर्मभिः ।
यदा बुद्धौ तदा ज्ञेयः प्राज्ञ आत्मा ह्यनन्यदृक् ॥ २५ ॥

जिस समय अन्तःकरण में कर्मों के द्वारा विषय तथा वासनाओं का उद्बोध न हो उस समय अपने से भिन्न किसी अन्य पदार्थ को न देखने [अर्थात् अपरिच्छिन्नदर्शी] आत्मा को 'प्राज्ञ' जानना चाहिये ॥२५॥

मनोबुद्धीन्द्रियाणां या अवस्थाः कर्मचोदिताः ।
चैतन्येनैव भास्यन्ते रविणेव घटादयः ॥ २६ ॥

जिस प्रकार घटादि पदार्थ सूर्य से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार क उद्बुद्ध ये मन, बुद्धि और इन्द्रियों की अवस्थाएँ[1] चैतन्य आत्मा से ही प्र होती हैं ॥ २६ ॥

तत्रैवं सति बुद्धीर्ज्ञ आत्मभासावभासयन् ।
कर्ता तासां यदर्थास्ता मूढैरेवाभिधीयते ॥ २७ ॥

ये अवस्थाएँ आत्मा में अध्यस्त हैं; अतः अपने सुख-दुःखाबभास कं भूता बुद्धियों को अपने प्रकाश से प्रकाशित करनेवाला आत्मा मूढ पुरु उनका कर्ता कहा जाता है ॥ २७ ॥

सर्वज्ञोऽप्यत एव स्यात्स्वेन भासावभासयन् ।
सर्वं सर्वक्रियाहेतोः सर्वकृत्त्वं तथात्मनः ॥ २८ ॥

और इसी से अपने प्रकाश द्वारा सबको प्रकाशित करने के का सर्वज्ञ भी है, तथा सन्निधिमात्र से समस्त क्रियाओं का प्रवृत्त होने के उसका सर्वकर्तृत्व माना गया है ॥ २८ ॥

सोपाधिश्चैवमात्मोक्तो निरुपाख्योऽनुपाधिकः ।
निष्कलो निर्गुणः शुद्धस्तं मनो वाक्च नाप्नुतः ॥ २९

इस प्रकार सोपाधिक आत्मा का वर्णन किया गया; निरुपाधिक आ

१ मन की अवस्था स्वप्न है, बुद्धि की सुषुप्ति और इन्द्रियों की जाग्र

अकथनीय, निष्कल, निर्गुण और शुद्ध है। उसे मन और वाणी प्राप्त नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

चेतनोऽचेतनो वापि कर्ताऽकर्ता गतोऽगतः।
बद्धो मुक्तस्तथा चैकोऽनेकः शुद्धोऽन्यथेति वा ॥ ३० ॥

भिन्न-भिन्न वादी[1] चेतन या अचेतन, कर्ता या अकर्ता, व्यापक या अव्यापक, बद्ध या मुक्त, एक या अनेक तथा शुद्ध या शबल भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका निरूपण करते हैं ॥ ३० ॥

अप्राप्यैव निवर्तन्ते वचोधीभिः सहैव तु।
निर्गुणत्वात्क्रियाभावाद्विशेषाणामभावतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि आत्मा निर्गुण है, उसमें क्रिया का अभाव है तथा [जाति आदि स्वगत एवं गो-सुवर्णादि बाह्य] विशेषणों का भी अभाव है, इसलिये बुद्धि के सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है ॥ ३१ ॥

व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वैर्वियोजितम्।
यथा तद्वदिहात्मानं विन्द्याच्छुद्धं परं पदम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार व्यापक आकाश सम्पूर्ण मूर्त्त पदार्थों से सर्वथा सम्बन्धशून्य है उसी प्रकार यहाँ वेदान्त सिद्धान्त में शुद्ध परब्रह्मस्वरूप आत्मा को समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

---

१ चार्वाक लोग जड, देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को आत्मा कहते हैं। नैयायिकादि आत्मा को कर्ता बतलाते हैं, किन्तु सांख्यादि उसे अकर्ता कहते हैं। जैन लोग आत्मा को शरीरपरिमाण समझते हैं, किन्तु रामानुजादि वैष्णव आचार्य उसे अणु मानते हैं। वेदान्ती केवल एक आत्मा स्वीकार करते हैं, किन्तु सांख्य नैयायिकादि अनेक आत्मा मानते हैं। वेदान्ती और सांख्यवादी आत्मा को शुद्ध मानते हैं, किन्तु नैयायिकादि का मत इसके विरुद्ध है। इस प्रकार आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न वादियों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

दृष्टं हित्वा स्मृतिं तस्मिन्सर्वग्रस्थ तमस्त्यजेत् ।
सर्वदृग्ज्योतिषा युक्तो दिनकृच्छार्वरं यथा ॥ ३३ ॥

अतः जिस प्रकार सूर्य रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी आत्मजिज्ञासु पुरुष [जाग्रत् अवस्था में] देखे हुए पदार्थों को त्यागकर स्मृति [अर्थात् स्वप्नदृष्ट पदार्थों] का परित्याग करे और फिर आत्मा के प्रकाशक तेज से युक्त हो, सबको अपने में लीन कर लेने वाले [सुषुप्ति के] अज्ञान का भी परित्याग कर दे ॥ ३३ ॥

रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः प्रत्यया यस्य गोचराः ।
स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः ॥ ३४ ॥

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के पदार्थ जिसके विषय हैं वही समस्त व्याप्त, सर्वगत, निर्विशेष, साक्षी आत्मा है ॥ ३४ ॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुर्विषयालोकसंगमात् ।
विचित्रो जायते बुद्धेः प्रत्ययोऽज्ञानलक्षणः ॥ ३५ ॥

[यदि आत्मा निर्विशेष है तो तरह-तरह के ज्ञान किस प्रकार होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि] आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय और प्रकाश का संयोग[1] होने पर अज्ञानरूप उपाधि के कारण बुद्धि से नाना प्रकार के होते हैं ॥ ३५ ॥

---

१ आत्मा असंग है, इसलिये उससे किसी का सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ बुद्धि आदि के साथ उसका संयोग बतलाया—सो यह किस प्रकार उपपन्न हो सकता है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं 'अज्ञानरूप उपाधि के कारण' अर्थात् यद्यपि वस्तुतः उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तथापि अज्ञानरूप उपाधि के कारण कल्पित सम्बन्ध होने से ही यह भेद ज्ञान हो रहा है। आत्मा के बिना कोई ज्ञान हो नहीं सकता, इसलिये उसका सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। बुद्धि ज्ञान का आश्रय है, मन साधारण करण है, इन्द्रियाँ विशेष करण हैं, विषय निमित्त कारण हैं और प्रकाश के बिना वस्तु की प्रतीति नहीं होती, इसलिये वह भी उसके ज्ञान में हेतु है ।

विविच्यास्मात्स्वमात्मानं विन्द्याच्छुद्धं परं पदम् ।
द्रष्टारं सर्वभूतस्थं समं सर्वभयातिगम् ॥ ३६ ॥
समस्तं सर्वगं शान्तं विमलं व्योमवत् स्थितम् ।
निष्कलं निष्क्रियं सर्वं नित्यं द्वन्द्वैर्विवर्जितम् ॥ ३७ ॥

इस बुद्धि आदि के सङ्घात से विवेक करके मुमुक्षु पुरुष को अपने परम प्राप्तव्य, शुद्ध, साक्षी, सर्वभूतान्तर्यामी, निर्विशेष, सर्वभयातीत, सर्वस्वरूप, सर्वगत, शान्त, निर्मल, आकाश के समान सर्वत्र स्थित, निरवयव, निष्क्रिय, सर्वमय, नित्य एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ३६–३७ ॥

सर्वप्रत्ययसाक्षी ज्ञः कथं ज्ञेयो मयेत्युत ।
विमृश्यैवं विजानीयाज्ज्ञानकर्म न वेति वा ॥ ३८ ॥

'समस्त प्रतीतियों का साक्षी जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कैसा है ? वह मेरा ज्ञेय है या नहीं ? तथा वह किसी प्रकार के ज्ञान का कर्म है या नहीं ?' इस प्रकार विचार करके [आत्मा के तत्त्व को] जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

अदृष्टं द्रष्टृविज्ञातं दभ्रमित्यादिशासनात् ।
नैव ज्ञेयं मयान्यैर्वा परं ब्रह्म कथंचन ॥ ३९ ॥

'आत्मा दिखाई देने वाला न होकर सबको देखने वाला है'; 'जो ज्ञान का विषय होता है वह अल्प होता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य होने के कारण परब्रह्म मेरे अथवा किसी अन्य के द्वारा तनिक भी ज्ञेय नहीं है ॥ ३९ ॥

स्वरूपाव्यवधानाभ्यां ज्ञानालोकस्वभावतः ।
अन्यज्ञानानपेक्षत्वाज्ज्ञातं चैव सदा मया ॥ ४० ॥

किन्तु आत्मा मेरा स्वरूप और मुझ से सर्वथा व्यवधान रहित है तथा वह स्वप्रकाशस्वरूप है; इसलिए [अपने स्फुरण में] उसे किसी अन्य ज्ञान का अपेक्षा न होने के कारण वह सर्वदा मुझे ज्ञात ही है[1] ॥ ४० ॥

---

1 इससे पूर्व श्लोक में आत्मा को अज्ञेय बतलाया गया है। इससे

नान्येन ज्योतिषा कार्यं रवेरात्मप्रकाशने ।
स्वबोधान्नान्यबोधेच्छा बोधस्यात्मप्रकाशने ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार सूर्य को अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए किसी ज्योतिर्मय पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार बोधस्वरूप आ... है । अपना बोध कराने के लिये आत्मचैतन्य के सिवा किसी अन्य चैत... आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

न तस्यैवान्यतोऽपेक्षा स्वरूपं यस्य यद्भवेत् ।
प्रकाशान्तरदृश्यो न प्रकाशो ह्यस्ति कश्चन ॥ ४२ ॥

जो जिसका स्वरूप होता है उसकी सिद्धि के लिए उसे किसी अ... अपेक्षा नहीं होती । ऐसा कोई भी प्रकाश नहीं है जो किसी अन्य प्र... प्रकाशित होने वाला हो ॥ ४२ ॥

व्यक्तिः स्यादप्रकाशस्य प्रकाशात्मसमागमात् ।
प्रकाशस्त्वर्ककार्यः स्यादिति मिथ्या वचो ह्यतः ॥ ४३

[यदि कहो कि परप्रकाश्य न होने पर भी आत्मा स्वप्रकाश्य अर्थात् स... प्रकाश का विषय तो होना ही चाहिए—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, ... जो वस्तु प्रकाशशून्य होती है उसी की, प्रकाशस्वरूप वस्तु की सन्निधि ... अभिव्यक्ति हुआ करती है । अतः प्रकाश सूर्य का कार्य है—यह मिथ्या है ॥ ४३ ॥

'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियों से विरोध आता है । अतः ... में आचार्य यह बतलाते हैं कि आत्मा अन्य ज्ञेय पदार्थों की भाँति परिच्छि... अनित्य ज्ञान का विषय नहीं है । अन्य पदार्थ ज्ञाता से भिन्न और व्यव... होते हैं, अतः उनके ज्ञान के लिए उनसे भिन्न उनके प्रकाशक की तथा ... साथ उनकी सन्निधि की आवश्यकता होती है । किन्तु आत्मा स्व... और निरावरण है, अतः वह नित्यज्ञानस्वरूप है, किसी भी अ... अज्ञात नहीं है ।

यतोऽभूत्वा भवेद्यच्च तस्य तत्कार्यमिष्यते ।
स्वरूपत्वादभूत्वा न प्रकाशो जायते रवेः ॥ ४४ ॥

जो वस्तु पहले न होकर फिर जिससे होती है वह उसका कार्य मानी जाती है। किन्तु सूर्य का प्रकाश तो उसका स्वरूप है, वह पहले न होकर पीछे उत्पन्न नहीं होता ॥ ४४ ॥

सत्तामात्रे प्रकाशस्य कर्तादित्यादिरिष्यते ।
घटादिव्यक्तितो यद्वत्तद्वद्बोधात्मनीष्यताम् ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार प्रकाश की सत्तामात्र से घटादि की अभिव्यक्ति होने के कारण सूर्यादि को प्रकाश का कर्ता माना जाता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान होने के कारण आत्मा में बोधकर्तृत्व माना गया है। [किन्तु वस्तुतः उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है] ॥ ४५ ॥

बिलात्सर्पस्य निर्याणे सूर्यो यद्वत्प्रकाशकः ।
प्रयत्नेन विना तद्वज्ज्ञातात्मा बोधरूपतः ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार सर्प के बिल से बाहर निकलने पर सूर्य बिना प्रयत्न के ही उसका प्रकाशक हो जाता है उसी प्रकार बोधस्वरूप होने के कारण आत्मा [बिना विकार को प्राप्त हुए ही] सबका ज्ञाता है ॥ ४६ ॥

दग्धेवमुष्णः सत्तायां तद्वद्बोद्धात्मनीष्यताम् ।
सत्यैव यदुपाधौ तु ज्ञाते सर्प इवोत्थिते ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार उष्णस्वभाव अग्नि [दाह्यवस्तु की सन्निधि होने पर] अपनी सत्तामात्र से उसका दाहक हो जाता है उसी प्रकार [बोध्य वस्तु की सन्निधि-मात्र से] आत्मा में बोद्धृत्व समझो। जिस तरह बिल से निकले हुए उपाधिभूत सर्प के ज्ञान होने पर ही सूर्य उसका प्रकाशक कहा जाता है। [वैसे ही आत्मा का बोद्धृत्व भी औपाधिक ही है, स्वतः नहीं है] ॥ ४७ ॥

ज्ञाताऽयत्नोऽपि तद्वज्ज्ञः कर्ता भ्रामकवद्भवेत् ।
स्वरूपेण स्वयं नात्मा ज्ञेयोऽज्ञेयोऽथवा ततः ॥ ४८ ॥

ज्ञानस्वरूप आत्मा जिस प्रकार बिना प्रयत्न के ही सबका ज्ञाता है
प्रकार [1]भ्रामक के समान वह कर्ता भी हो सकता है। इसलिए स्वयं
तो आत्मा न ज्ञेय है और न अज्ञेय ॥ ४८ ॥

विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति शासनात्।
बन्धमोक्षादयो भावास्तद्वदात्मनि कल्पिताः ॥ ४९ ॥

"आत्मा विदित और अविदित से अन्य ही है" ऐसा [2]श्रुति का
होने के कारण इन (ज्ञातृत्व और कर्तृत्व) के समान ही बन्ध-मोक्षादि
भी आत्मा में कल्पित ही हैं ॥ ४९ ॥

नाहोरात्रे यथा सूर्ये प्रभारूपाविशेषतः।
बोधरूपाविशेषान्न बोधाबोधौ तथात्मनि ॥ ५० ॥

जिस प्रकार समान भाव से प्रकाशस्वरूप होने के कारण सूर्य में दि
रात्रि नहीं है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वरूप में कोई विशेषता न
कारण उसमें ज्ञान और अज्ञान नहीं हैं ॥ ५० ॥

यथोक्तं ब्रह्म यो वेद हानोपादानवर्जितम्।
यथोक्तेन विधानेन स सत्यं नैव जायते ॥ ५१ ॥

जो पुरुष उपर्युक्त प्रकार से ऊपर बतलाए हुए ग्रहणत्यागशून्य
जानता है वह सचमुच ही फिर जन्म नहीं लेता ॥ ५१ ॥

जन्ममृत्युप्रवाहेषु पतितो नैव शक्नुयात्।
इत उद्धर्तुमात्मानं ज्ञानादन्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

जन्म और मृत्यु के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य ज्ञान के सिवा कि
साधन द्वारा इस प्रवाह से अपना उद्धार नहीं कर सकता ॥ ५२ ॥

१ सूर्य अथवा चुम्बक। सोये हुए पुरुषों को अपने उदयमात्र से
कार्य में प्रवृत्त करने के कारण सूर्य को 'भ्रामक' कहते हैं तथा अपनी सं
से लोह खण्ड को आकर्षित कर लेने के कारण चुम्बक भी 'भ्रामक' है
दोनों को ही अपनी सन्निधिसत्ता के सिवा और किसी प्रयत्न की अपेक्षा न
२ 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० १।३)।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्ट इति श्रुतेः ॥ ५३ ॥

इस विषय में यह श्रुति प्रमाण है—"उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस पुरुष के हृदय की [कामादिरूप] ग्रन्थि टूट जाती है, इसके सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं" ॥५३॥

ममाहमित्येतदपोह्य सर्वतो विमुक्तदेहं पदमम्बरोपमम् ।
सुदृष्टशास्त्रानुमितिभ्य ईरितं विमुच्यतेऽस्मिन्यदि निश्चितो नरः ॥

सम्यक् प्रकार से विचारे हुए शास्त्र और अनुमान द्वारा स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय से रहित जिस आकाश सदृश ब्रह्म का वर्णन किया गया है उसमें सब प्रकार से ममता और अहन्ता को त्याग कर यदि पुरुष निश्चित हो जाय तो अवश्य मुक्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

पार्थिवप्रकरण[1] ॥ १६ ॥

पार्थिवः कठिनो धातुर्द्रवो देहे स्मृतोऽम्मयः ।
पक्तिचेष्टावकाशाः स्युर्वह्निवाय्वम्बरोद्भवाः ॥ १ ॥

शरीर में कठिन धातु [मांसादि] पृथिवी के विकार हैं, तरल धातु [रुधिरादि] जल के विकार हैं, तथा पाक, चेष्टा और अवकाश क्रमशः अग्नि, वायु और आकाश के कार्य हैं। [अतः पञ्चभूतों का परिणामभूत शरीर आत्मा नहीं है] ॥ १ ॥

घ्राणादीनि तदर्थाश्च पृथिव्यादिगुणाः क्रमात् ।
रूपालोकवदिष्टं हि सजातीयार्थमिन्द्रियम् ॥ २ ॥

---

१ पूर्व प्रकरण में भेदाभेदवाद का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया गया कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ही स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष का साधन है। अब समस्त तार्किकों के मतों का निराकरण करके मुमुक्षु को स्वाराज्य पर अभिषिक्त करने

घ्राणादि इन्द्रियाँ और उनके विषय [गन्धादि] क्रमशः पृथिवी आदि के गुण हैं; क्योंकि रूप और प्रकाश के समान इन्द्रिय और उनके विषय सजातीय माने गये हैं[1] ॥ २ ॥

बुद्ध्यर्थान्याहुरेतानि वाक्पाण्यादीनि कर्मणे ।
तद्विकल्पार्थमन्तस्थं मन एकादशं भवेत् ॥ ३ ॥

ये घ्राणादि[2] इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन कही गयी हैं तथा वाक्, पाद, पायु और उपस्थ—ये कर्म की साधन हैं । तथा उनके विकल्प के अन्तः स्थित मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है[3] ॥ ३ ॥

के लिये यह पार्थिवप्रकरण आरम्भ किया जाता है । इसमें सबसे पहले शरीर को आत्मा माननेवालों के मत का निराकरण करते हैं ।

१ इन्द्रिय और उनके विषय सजातीय हैं । नेत्र तेज का कार्य है, विषय रूप भी तेज का ही कार्य है । इसी प्रकार घ्राण और गन्ध, रसना रस, त्वक् और स्पर्श, श्रोत्र और शब्द भी क्रमशः पृथिवी, जल, वायु आकाश के ही कार्य हैं । इससे गृहीता और ग्राह्य का साजात्य सिद्ध होता सम्पूर्ण प्रपञ्च का चरम गृहीता आत्मा है । अतः उसका ग्राह्य सम्पूर्ण प्रपञ्च वस्तुतः आत्ममय ही होना चाहिये । इसीसे प्रमाता चेतन और विषय के संयोग से ही प्रमा की उत्पत्ति मानी गयी है । अतः प्रमाता प्रमेय और सभी चिन्मय हैं और श्रुति का यह कथन ही कि 'सब कुछ ब्रह्म है' निश्चित सिद्धान्त है ।

२ घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र ।

३ आत्मा व्यापक है, उसका सभी इन्द्रियों के साथ निरन्तर समान सं है । अतः यदि आत्मा और इन्द्रियों के संयोग से ही ज्ञान की उत्पत्ति हो हर समय एक साथ ही समस्त इन्द्रिय जनित ज्ञान उत्पन्न होते रहते, ऐसा होता नहीं है । इसका कारण मन है । जिस इन्द्रिय के साथ मन का होता है उसी के विषय का ज्ञान आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है । अणु है । इसलिये उसका एक साथ सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं इसीसे उसे इन्द्रिय ज्ञान के विकल्प का हेतु कहा है ।

निश्चयार्था भवेद्बुद्धिस्तां सर्वार्थानुभाविनीम् ।
ज्ञातात्मोक्तः स्वरूपेण ज्योतिषा व्यञ्जयन्सदा ॥ ४ ॥

अन्तःकरण की निश्चयार्था वृत्ति बुद्धि है। तथा समस्त पदार्थों का अनुभव करानेवाली उस बुद्धि को अपने स्वरूपभूत प्रकाश से सर्वदा अभिव्यक्त करनेवाला आत्मा उसका ज्ञाता कहा गया है[1] ॥ ४१ ॥

व्यञ्जकस्तु यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतां गतः ।
व्यतिकीर्णोऽप्यसंकीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार विषय को अभिव्यक्त करनेवाला [दीपादिजनित] प्रकाश अपने व्यंग्य विषय के समान आकारवाला हो जाता है तथा उसके साथ मिला हुआ प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उससे नहीं मिलता उसी प्रकार चेतन आत्मा भी अपने प्रकाश्य प्रत्ययों से सर्वदा अलिप्त ही रहता है ॥ ५ ॥

स्थितो दीपो यथा यत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत् ।
शब्दाद्याकारबुद्धीर्ज्ञः प्राप्तास्तद्वत्प्रपश्यति ॥ ६ ॥

जिस प्रकार एक स्थान पर स्थित हुआ दीपक अपने समीप आये हुए सभी पदार्थों को बिना किसी प्रयत्न के प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार शब्दाद्याकार में परिणित एवं अपने को प्राप्त हुई बुद्धिवृत्तियों का आत्मा साक्षी है ॥ ६ ॥

शरीरेन्द्रियसंघात आत्मत्वेन गतां धियम् ।
नित्यात्मज्योतिषा दीप्तां विशिंषन्ति सुखादयः ॥ ७ ॥

सुखादि भी शरीर एवं इन्द्रिय संघात में आत्मभाव को प्राप्त हुई तथा नित्य-आत्मज्योति से प्रकाशित होनेवाली बुद्धि को ही विशेषित करते हैं [आत्मा को नहीं[2]] ॥ ७ ॥

---

[1] अतः आत्मा की ज्ञेय होने के कारण बुद्धि भी आत्मा नहीं है।

[2] तात्पर्य यह है कि सुख-दुःखादि भी आत्मा के धर्म नहीं हैं, ये भी देहादि आत्मत्व का अभिमान करनेवाली बुद्धि के ही धर्म हैं। अतः जिस समय ऐसा

शिरोदुःखादिनात्मानं दुःख्यस्मीति हि पश्यति ।
द्रष्टान्यो दुःखिनो दृश्याद् द्रष्टृत्वाच्च न दुःख्यसौ ॥ ८ ॥

क्योंकि आत्मा शिर के दुःखादि से अपने को 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा दे[खता] है । अतः अपने दृश्यभूत दुःखी से उसका द्रष्टा आत्मा भिन्न है और द्रष्टा[पन] के कारण वह दुःखी भी नहीं है[1] ॥ ८ ॥

दुःखी स्याद्दुःख्यहंमानाद्दुःखिनो दर्शनान्न वा ।
संहतेऽङ्गादिभिर्द्रष्टा दुःखी दुःखस्य नैव सः ॥ ९ ॥

तथा जीव जो दुःखी है वह दुःखी अन्तःकरण में अभिमान करने के [कारण] है, दुःख विशिष्ट अन्तःकरण का साक्षी होने के कारण दुःखी नहीं है [क्यों[कि] यदि साक्षीमात्र होने से दुःखी होता तो अन्य दुःखी जीवों को देखकर भी दुःखी हो जाना चाहिये था] । अतः हस्तपादादि अंगों से संहत देह में दुःख है उसका साक्षी आत्मा दुःखी नहीं है ॥ ९ ॥

चक्षुर्वत्कर्मकर्तृत्वं स्याच्चेन्नानेकमेव तत् ।
संहतं च ततो नात्मा द्रष्टृत्वात्कर्मतां व्रजेत् ॥ १० ॥

यदि कहो कि नेत्र के समान आत्मा का भी कर्मत्व और कर्तृत्व हो [सकता] है [अर्थात् जिस प्रकार दर्पणस्थ नेत्र गोलकस्थ नेत्र का कर्म है उसी [प्रकार] दुःखादिगत आत्मा स्वरूपभूत आत्मा का कर्म हो सकता है] तो ऐसा [कहना] ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र तो अनेकरूप और संहत है, [अतः उसमें ऐसा

अनुभव होता है कि 'मैं दुःखी हूँ' उस समय अहंपदवाच्य बुद्धि ही [दुःख] विशिष्ट होती है, आत्मा तो केवल उसका साक्षी है ।

1 जिस समय ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं दुःखी हूँ' उस सम[य] दुःख का कारण या तो शिरोरोगादि कोई स्थूल देह गत विकार होता [है] या शोक-मोहादि लिंगदेहगत विकार । अतः उस विकार का आधार ही [उससे] होनेवाले दुःख का भी आधार है । आत्मा तो उसका साक्षी होने के [कारण] उससे सर्वथा असंग है ।

होना सम्भव है]। इसलिये साक्षीस्वरूप होने के कारण आत्मा साक्ष्यत्व को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १० ॥

ज्ञानयत्नाद्यनेकत्वमात्मनोऽपि मतं यदि ।
नैकज्ञानगुणत्वात्तु ज्योतिर्वत्तस्य कर्मता ॥ ११ ॥

यदि ज्ञान प्रयत्न एवं इच्छादि गुणों के कारण आत्मा का भी अनेकत्व (अंश भेद से ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व) माना जाय[1] तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एकमात्र ज्ञान गुणवाला होने के कारण प्रकाश के समान वह अपना कर्म (दृश्य) नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

ज्योतिषो द्योतकत्वेऽपि यद्वन्नात्मप्रकाशनम् ।
भेदेऽप्येवं समत्वाज्ज्ञ आत्मानं नैव पश्यति ॥ १२ ॥

जिस प्रकार सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशक होने पर भी अपने को [कर्मरूप से] प्रकाशित नहीं करते उसी प्रकार यदि आत्मा में अंशभेद भी स्वीकार किया जाय तो भी [चिन्मात्ररूप] से उसमें समानता होने के कारण वह अपने को ही नहीं देख सकता[2] ॥ १२ ॥

यद्धर्मा यः पदार्थो न तस्यैवेयात्स कर्मताम् ।
न ह्यात्मानं दहत्यग्निस्तथा नैव प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिस धर्मवाला होता है वह उसी धर्म का कर्म नहीं हुआ करता;

१ नैयायिक आत्मा को इच्छादिगुणविशिष्ट और अनेक मानते हैं।

२ तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा में अंशभेद स्वीकार कर उसके किसी अंश को गृहीता और किसी को ग्राह्य मानें तो यह प्रश्न होगा कि उसका ग्राह्य अंश जड है या चेतन। यदि चेतन है तो वह किसी का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन तो प्रकाशक ही होता है, किसी का प्रकाश्य नहीं हुआ करता; और यदि जड मानें तो प्रकाश और अंधकार के समान चेतन और जड ये दो अत्यन्त विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में नहीं रह सकते। अतः उसमें अंशभेद की कल्पना करके स्वयं ही ग्राह्य-ग्राहकरूप मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है।

जिस प्रकार अग्नि अपने को न तो दग्ध कर सकता है और न प्र
ही कर सकता है ॥ १३ ॥

एतेनैवात्मनात्मानो ग्रहो बुद्धेर्निराकृतः ।
अंशोऽप्येवं समत्वाद्धि निर्भेदत्वान्न युज्यते ॥ १४ ॥

इस पूर्वोक्त युक्ति से ही बौद्धों का [बुद्धिरूप] आत्मा का अ
द्वारा ग्रहण किया जाना भी खण्डित हो जाता है[1], तथा [चिन्मात्रत्व
समान और भेद रहित होने के कारण आत्मा में अंश मानना भी यु
नहीं है ॥ १४ ॥

शून्यतापि न युक्तं वै बुद्धेरन्येन दृश्यता ।
युक्ताऽतो घटवत्तस्याः प्राक्सिद्धेश्च विकल्पतः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार बुद्धि का शून्यत्व भी युक्तियुक्त नहीं है; अतः घट के
बुद्धि का भी किसी अन्य के द्वारा देखा जाना ही युक्तियुक्त है तथा वह [
पदार्थ] बुद्धि की कल्पना से पूर्व विद्यमान है, [इसलिये भी उसका
नहीं माना जा सकता][2] ॥ १५ ॥

---

१ बौद्धगण बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं और बाह्य विषय की
मानकर क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होने वाली बुद्धि को ही ग्राह्य
मानते हैं। अतः पूर्वोक्त युक्ति से उनका मत भी खण्डित हो जाता है।
श्लोक १२ की टिप्पणी में आत्मा और उसके दृश्य का साजात्य सिद्ध
सबको चिन्मय बतलाया गया है। उससे यह कथन विरुद्ध जान पड़ता है।
यह स्मरण रहना चाहिए कि वह कथन परमार्थसत्ता को लेकर है
व्यवहारसत्ता को।

२ शून्यवादी बौद्धगण सब वस्तुओं का निराकरण कर एकमात्र
ही परमार्थ तत्त्व मानते हैं। किन्तु बुद्धि जड है, अतः परप्रकाश्य है।
जड होने के कारण शून्य भी परप्रकाश्य ही होगा। अतः वह परमार्थ तत्त्व
सकता। इसीलिए जो बुद्धि का साक्षी है वह आत्मतत्त्व ही परमार्थ है
बुद्धि से पूर्व विद्यमान है, बुद्धि उसी में अध्यस्त है।

अविकल्पं तदस्त्येव यत्पूर्वं स्याद्विकल्पतः ।
विकल्पोत्पत्तिहेतुत्वाद्यद्यस्यैव तु कारणम् ॥ १६ ॥

जो वस्तु विकल्प से पूर्व सिद्ध होती है वह विकल्प की उत्पत्ति के हेतु होने के कारण स्वयं अविकल्पित हुआ करती है। तथा जो जिसका कारण होता है वह भी उससे पूर्वसिद्ध ही हुआ करता है ॥ १६ ॥

अज्ञानं कल्पनामूलं संसारस्य नियामकम् ।
हित्वात्मानं परं ब्रह्म विन्द्यान्मुक्तं सदाऽभयम् ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण कल्पना के मूल और संसार की स्थिति के हेतुभूत अज्ञान को त्याग कर अपने आत्मा मुक्तस्वरूप एवं सर्वदा भयशून्य परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ १७ ॥

जाग्रत्स्वप्नं तयोर्बीजं सुषुप्ताख्यं तमोमयम् ।
अन्योन्यस्मिन्नसत्त्वाच्च नास्तीत्येतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १८ ॥

[अज्ञान का त्याग किस प्रकार करना चाहिये सो बतलाते हैं—] जाग्रत और स्वप्न [अर्थात् स्थूल सूक्ष्म विषयभोगरूप संसार] तथा उन दोनों की बीजभूता अज्ञानमयी सुषुप्ति अवस्था—इनका परस्पर एक दूसरी अवस्था में अभाव होने के कारण वस्तुतः ये हैं ही नहीं। अतः इन तीनों को त्यागना चाहिये ॥ १८ ॥

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकार्थादिसंकरात् ।
भ्रान्तिः स्यादात्मकर्मेति क्रियाणां संनिपाततः ॥ १९ ॥

[किन्तु 'त्यागना चाहिए' ऐसी विधि होने से तो आत्मा का कर्तृत्व प्रतीत होता है, फिर उसका ब्रह्मत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? इसपर कहते हैं—] देह, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रकाश और विषय आदि का अध्यास होने के कारण क्रियाओं का उद्भव होता है और इसीसे ऐसी भ्रान्ति होती है कि 'आत्मा का कर्म है' ॥ १९ ॥

निमीलोन्मीलने स्थाने वायव्ये ते न चक्षुषः ।
प्रकाशत्वान्मनस्येवं बुद्धौ न स्तः प्रकाशतः ॥ २० ॥

[आत्मा में कर्तृत्व का आरोप कैसे होता है—सो दृष्टान्त देकर स्प हैं—] नेत्र गोलकों में जो पलकों का खोलना और बन्द करना होता है वा का कार्य है, नेत्र का नहीं, क्योंकि नेत्र तेजोमय हैं। इसी प्रकार मन औ में भी क्रिया नहीं है, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप हैं। [उनमें जो क्रिया प्रतीत वह प्राण का कार्य है] ॥ २० ॥

संकल्पाध्यवसायौ तु मनोबुद्ध्योर्यथा क्रमात् ।
नेतरेतरधर्मत्वं सर्वं चात्मनि कल्पितम् ॥ २१ ॥

मन और बुद्धि के धर्म क्रमशः संकल्प और निश्चय हैं। उनका साङ्कर्य नहीं होता। अतः आत्मा में भी ये सब अध्यस्त ही हैं। [में नहीं] ॥ २१ ॥

स्थानावच्छेददृष्टिः स्यादिन्द्रियाणां तदात्मताम् ।
गता धीस्तां हि पश्यञ्ज्ञो देहमात्र इवेक्ष्यते ॥ २२ ॥

[किन्तु जैनमतावलम्बी आत्मा को देहपरिमाण मानते हैं, फिर ब्रह्मत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—] की दृष्टि अपने अपने गोलकों से परिच्छिन्न है और वे तदाकारता को जाती हैं तथा बुद्धि का देह और इन्द्रियों से तादात्म्य है। अतः बुद्धि होने के कारण आत्मा देहपरिमाण जान पड़ता है[1] ॥ २२ ॥

---

१ किन्तु वस्तुतः आत्मा देहपरिमाण नहीं है। यदि उसे देहपरि जाय तो सावयव और परिच्छिन्न होने के कारण वह नाशवान् होगा तथा कर्मवश यदि उसे कीटयोनि प्राप्त हो तो कीटशरीर में उसका प्रवे सकेगा। और यदि हाथी आदि की योनि प्राप्त हो तो सर्वशरीरव्यापी कारण सारे शरीर के सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं कर सकेगा। अ आत्मा सर्वव्यापक है; उसमें औपाधिक परिच्छिन्नता प्रतीत होती है।

क्षणिकं हि तदत्यर्थं धर्ममात्रं निरन्तरम् ।
सादृश्याद्दीपवत्तद्धीस्तच्छान्तिः पुरुषार्थता ॥ २३ ॥

[बौद्धों का कथन है कि] ज्ञान और ज्ञेय क्षणिक, स्वभावतः नाशवान्, धर्ममात्र [अर्थात् निराधिष्ठान] और निरन्तर उत्पन्न होने वाले हैं । दीपशिखा के समान उनमें सादृश्य होने के कारण उनकी प्रत्यभिज्ञा (अमुक पदार्थ वही है–ऐसी बुद्धि) होती है । उनकी निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ (निर्वाण) है[1] ॥२३॥

स्वाकारान्यावभासं च येषां रूपादि विद्यते ।
येषां नास्ति ततश्चान्यत्पूर्वासंगतिरुच्यते ॥ २४ ॥

[अब बौद्धों का पारस्परिक मतभेद दिखलाकर उनके मत का खण्डन करते हैं–] जिन बौद्धों के मत में रूपादि बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार से भिन्न किसी अन्य ज्ञान द्वारा अवभासित हैं तथा जिनके मत में उससे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है, वे [एक प्रकार से] पूर्व मतावलम्बियों के मत की असंगति प्रतिपादित करते हैं[2] ॥ २४ ॥

बाह्याकारत्वतो ज्ञप्तेः स्मृत्यभावः सदा क्षणात् ।
क्षणिकत्वाच्च संस्कारं नैवाधत्ते क्वचित्तु धीः ॥ २५ ॥

---

१ बौद्धों का मत है कि समस्त पदार्थ क्षणिक विज्ञानमात्र हैं । विषयों की भाँति उनका ज्ञाता आत्मा भी क्षणिक ही है । जिस प्रकार दीपक की शिखा अथवा नदी का प्रवाह क्षण-क्षणपर नवीन उत्पन्न होने पर भी पूर्व सदृश होने के कारण वे ही जान पड़ते हैं उसी प्रकार दृश्यमान पदार्थ भी पूर्वसदृश होने के कारण स्थायी जान पड़ते हैं । इनमें स्थायित्व-बुद्धि की निवृत्ति ही विवेक है और यही परमपुरुषार्थ है ।

२ विज्ञानवादी बौद्ध रूपादि बाह्य पदार्थों की सत्ता न मानकर उन्हें बुद्धिगत रूपादि संस्कार के कारण विज्ञान के ही अवभासमात्र मानते हैं तथा वे ज्ञान ज्ञानान्तर से प्रकाशित हैं ऐसा भी स्वीकार करते हैं । किन्तु शून्यवादी ज्ञान और ज्ञेय दोनों की ही सत्ता नहीं मानते । अतः वे विज्ञानवादी के मत को

[बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार] ज्ञान ही बाह्य विषय रूप होने के … एवं ज्ञाता क्षणिक होने से सर्वदा ही स्मृति का अभाव सिद्ध होता है; … बुद्धि भी क्षणिक होने के कारण अपने संस्कारों को [उत्तरकालीन बुद्धि …] कभी स्थापित नहीं कर सकती[1] ॥ २५ ॥

आधारस्याप्यसत्त्वाच्च तुल्यतानिर्निमित्ततः ।
स्थाने वा क्षणिकत्वस्य हानं स्यान्न तदिष्यते ॥ २६ ॥

वे बुद्धि का कोई आधार (साक्षी) भी नहीं मानते, इसलिये पूर्व … और उत्तरवर्ती ज्ञान की तुल्यता का भी कोई हेतु नहीं है। और यदि … आधार माना जाय तो उसके क्षणिकत्व की हानि होती है और यह … इष्ट नहीं है ॥ २६ ॥

शान्तेश्चायत्नसिद्धत्वात्साधनोक्तिरनर्थिका ।
एकैकस्मिन्समाप्तत्वाच्छान्तेरन्यानपेक्षता ॥ २७ ॥

तथा [पदार्थों के स्थायित्वादि भ्रम की] निवृत्ति भी अयत्न सिद्ध है; अतः उसके लिये साधन बतलाना व्यर्थ ही है। एक-एक क्षण में विज्ञा…

असंगत सिद्ध करते हैं। इस प्रकार बौद्धों का एक दल दूसरे दल के सि… का घातक है।

१ तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञान ही बाह्य विषय के आकार में परिणत … है तो विषय की उत्पत्ति से पूर्व तो ज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है … उत्पन्न होने पर भी वह क्षणिक है; इसलिये ज्ञान के साथ सम्बन्ध न हो… के कारण उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। तथा विज्ञानवादी जो ज्ञान… भी क्षणिकत्व स्वीकार करता है उसके अनुसार पूर्वक्षण में होने वाली … उत्तरक्षणवर्तिनी बुद्धि से असम्बद्ध होने के कारण उसमें अपने अनुभव कि… पदार्थ का संस्कार नहीं छोड़ सकती। इसलिये उसे पूर्वानुभूत पदार्थ की स्… भी नहीं होनी चाहिये। किन्तु स्मृति होती ही है। अतः उसका मत मा… नहीं है। इसी प्रकार शून्यवादी का मत तो सर्वथा ही युक्तिविरुद्ध है। अ… अग्राह्य है।

निवृत्ति हो ही जाती है, अतः उसकी निवृत्ति के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है[1] ॥ २७ ॥

अपेक्षा यदि भिन्नेऽपि परसन्तान इष्यताम् ।
सर्वार्थे क्षणिके कस्मिंस्तथाप्यन्यानपेक्षता ॥ २८ ॥

[इसके सिवा बौद्धों के सिद्धान्तानुसार पदार्थों का कार्य-कारणभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता] यदि कहो कि कार्य और कारण में अत्यन्त भेद होने पर भी [उनमें सन्ततिक्रम होने के कारण एक-दूसरे की] अपेक्षा हो सकती है तो किसी अन्य कार्य-कारण-सन्तति में भी अन्य वस्तु की अपेक्षा मानी जा सकती है[2]। यदि कहो कि सब पदार्थ क्षणिक होने पर भी किसी-किसी में ही किसी विशेष पदार्थ की अपेक्षा होती है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिक होने के कारण एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की अनपेक्षा ही सिद्ध होती है ॥२८॥

---

१ तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक ज्ञान स्वभाव से ही क्षणिक है तो उसके स्थायित्वभ्रम की निवृत्ति के लिये किसी साधन की क्या आवश्यकता है ? वह तो स्वयं ही दूसरे क्षण में निवृत्त हो जायगा। यदि सदृशज्ञानसन्तान के लिये योगादि की आवश्यकता मानी जाय तो भी उस सन्तान का कोई स्थिर साक्षी न होने के कारण कोई प्रयोजन नहीं है। अतः बुद्धि का क्षणिकत्व स्वीकार करने पर साधन की कोई आवश्यकता सिद्ध नहीं होती।

२ यदि सब पदार्थ क्षणिक ही हैं तो सर्वलोक प्रसिद्ध कार्यकारण-भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता। लोक में देखा जाता है कि दही का कारण दूध है। किन्तु यदि सभी पदार्थ क्षणिक हैं तो कार्य के नियतपूर्ववर्ती रूप से कारण की कोई अपेक्षा नहीं है। यदि कहो कि पदार्थ क्षणिक होने पर भी उनमें सन्ततिक्रम है। इसलिये दही से पूर्व कारण रूप से दूध की सत्ता अनिवार्य है तो भी दुग्ध सन्ततिक्रम से दधिसन्ततिक्रम सर्वथा भिन्न है; इसलिये जिस प्रकार दधिसन्तति क्रम के कारणरूप से दुग्धसन्ततिक्रम की अपेक्षा होती है वैसे ही बालुकादि अन्यसन्तति क्रम से भी दधि की उत्पत्ति न हो सकने में कोई कारण नहीं है। यदि दूध और दही का वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है तो बालू से भी दही क्यों नहीं तैयार किया जा सकता ?

तुल्यकालसमुद्भूताविततरेतरयोगिनौ ।
योगाच्च संस्कृतो यस्तु सोऽन्यं हीक्षितुमर्हति ॥ २९॥

[इसका कारण यह है कि] जब दो पदार्थ एक साथ उत्पन्न हैं और परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तो उन दोनों का सम्बन्ध है लोक जो जिससे संस्कारयुक्त होता है वही उसकी अपेक्षा किया करता है[1] ॥२९॥

मृषाध्यासस्तु यत्र स्यात्तन्नाशस्तत्र नो मतः ।
सर्वनाशो भवेद्यस्य मोक्षः कस्य फलं वद ॥ ३० ॥

[इस प्रकार बौद्धमत का निराकरण कर अब अपना मत बतलाते हैं वह हमारे सिद्धान्त में जहाँ (कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिशून्य ब्रह्म में) कर्तृत्वादि से मि का मिथ्या अध्यास है वहीं ['मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे बोध से] उसका नाश हो [उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता] । किन्तु जिसके सभी का नाश हो जाता है, बतलाओ, वहाँ मोक्षरूप फल किसे[2] मिलता है ! ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम ज्ञानं वात्माऽन्यदेव वा ।
भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावस्त्वधिगम्यते ॥ ३१ ॥

अतः [सभी के सिद्धान्तानुसार] आत्मा तो है ही; किन्तु वह ज्ञान है या शून्य ? [—यह विचारणीय है] । [हमारे सिद्धान्तानुसार] वह और अभाव का साक्षी होने के कारण शून्यरूप नहीं माना जा सकता ॥

१ जिस प्रकार अंकुर और मेघ एक साथ उत्पन्न होते हैं, और उनका सम्बन्ध भी है; किन्तु मेघ ही अंकुर का उपकारक है, अंकुर उसका उपकार अतः अंकुर को मेघ की अपेक्षा हो सकती है। किन्तु यह उनका स्थायित्व पर ही सम्भव है, क्षणिकत्व होने पर नहीं। अतः क्षणिक होने के कारण भिन्नकालवर्ती हैं और इसलिये परस्पर सम्बद्ध न होने के कारण उपकार्योपकारकभाव नहीं है उन पदार्थों को परस्पर एक-दूसरे की नहीं हो सकती।

२ अतः मोक्षरूप फल का अधिकारी कोई स्थायी तत्त्व अवश्य चाहिये।

येनाधिगम्यतेऽभावस्तत्सत्स्यात्तन्न चेद्भवेत् ।
भावाभावानभिज्ञत्वं लोकस्य स्यान्न चेष्यते ॥ ३२ ॥

जिसके द्वारा अभाव जाना जाता है वह सत् ही होना चाहिये; अन्यथा लोक को भाव और अभाव का ज्ञान न हो सकेगा और यह इष्ट नहीं है ॥३२॥

सदसत्सदसच्चेति विकल्पात्प्राग्यदिष्यते ।
तदद्वैतं समत्वात्तु नित्यं चान्यद्विकल्पितात् ॥ ३३ ॥

सत् असत् और सदसत् इस प्रकार के विकल्प से पूर्व जो वस्तु अभीष्ट है वह समानरूप होने के कारण अद्वितीय एवं नित्य है तथा विकल्पित पदार्थों से भिन्न है ॥ ३३ ॥

विकल्पोद्भवतोऽसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदिष्यताम् ।
द्वैतस्य प्रागसत्त्वाच्च सदसत्त्वादिकल्पनात् ॥ ३४ ॥

द्वैत का आविर्भाव [1]विकल्प से हुआ है तथा सत्ता और असत्तादि की कल्पना होने से पूर्व इसका अभाव है, इसलिये स्वप्न दृश्य के समान इसका अभाव ही मानना चाहिये ॥ ३४ ॥

वाचारम्भणशास्त्राच्च विकाराणां ह्यभावता ।
मृत्योः स मृत्युमित्यादेर्मम मायेति च स्मृतेः ॥ ३५ ॥

'घटादि विकार वाणी से आरम्भ होनेवाले हैं' इस शास्त्र वाक्य से, 'वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है' इस श्रुति से तथा, मेरी माया का पार पाना कठिन है' इस स्मृति से विकारों का अभाव सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

विशुद्धिश्चात एवास्य विकल्पाच्च विलक्षणः ।
उपादेयो न हेयोऽत आत्मा नान्यैरकल्पितः ॥ ३६ ॥

---

[1] कोई वस्तु न होने पर भी जो केवल शब्दज्ञान का हेतु होता है उसे विकल्प कहते हैं । यह संसार माया से अध्यस्त होने के कारण ऐसा ही है, क्योंकि वस्तुतः इसका आविर्भाव नहीं हुआ है, केवल भ्रमवश ही इसकी प्रतीति होती है । इसीसे इसे विकल्परूप से आविर्भूत हुआ कहा है ।

इसी से आत्मा शुद्धस्वभाव और द्वैत से विलक्षण है। वह न ग्राह्य, त्याज्य और न किसी अन्य तत्त्व के द्वारा कल्पना किया हुआ है ॥ ३६ ॥

अप्रकाशो यथादित्ये नास्ति ज्योतिःस्वभावतः ।
नित्यबोधस्वरूपत्वान्नाज्ञानं तद्वदात्मनि ॥ ३७ ॥

प्रकाशस्वरूप होने के कारण जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार नहीं है, प्रकार नित्य ज्ञान स्वरूप होने के कारण आत्मा में अज्ञान नहीं है ॥ ३७ ॥

तथाऽविक्रियरूपत्वान्नावस्थान्तरमात्मनः ।
अवस्थान्तरवत्त्वे हि नाशोऽस्य स्यान्न संशयः ॥ ३८ ॥

आत्मा निर्विकाररूप है, इसलिए उसमें कोई अवस्थान्तर नहीं; यदि उसमें अवस्थान्तर हो तो निश्चय ही उसका नाश हो जायगा ॥ ३८ ॥

मोक्षोऽवस्थान्तरं यस्य कृतकः स चलो ह्यतः ।
न संयोगो वियोगो वा मोक्षो युक्तः कथंचन ॥ ३९ ॥

जिसके मत में मोक्ष आत्मा का अवस्थान्तर है उसके सिद्धान्तानुसार कृतक है, इसलिए अनित्य है, क्योंकि ब्रह्म के साथ आत्मा के संयोग या को मोक्ष मानना किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ३९ ॥

संयोगस्याप्यनित्यत्वाद्वियोगस्य तथैव च ।
गमनागमने चैव स्वरूपं तु न हीयते ॥ ४० ॥

ब्रह्म के साथ संयोग और वियोग अनित्य होने के कारण [मोक्ष सकते] तथा [दिव्यलोकों में] जीव के आने-जाने को भी मोक्ष सकते, क्योंकि आत्मस्वरूप में कभी च्युति नहीं होती ॥ ४० ॥

स्वरूपस्यानिमित्तत्वात्सनिमित्ता हि चापरे ।
अनुपात्तं स्वरूपं हि स्वेनात्यक्तं तथैव च ॥ ४१ ॥
स्वरूपत्वान्न सर्वस्य त्यक्तुं शक्यो ह्यनन्यतः ।
गृहीतुं वा ततो नित्योऽविषयत्वात्पृथक्त्वतः ॥ ४२ ॥

स्वरूप का कोई कारण न होने से और क्योंकि अन्य अवस्थान्तरादि सकारण हैं तथा स्वरूप का अपने द्वारा ग्रहण या त्याग भी नहीं किया जा सकता, अतः सबका स्वरूप और सबसे [1]अभिन्न होने के कारण आत्मा को ग्रहण या त्याग करना सम्भव नहीं है। तथा किसी का विषय न होने के कारण भी आत्मा पृथग्रूप से ग्रहण या त्याज्य नहीं है ॥ ४१-४२ ॥

आत्मार्थत्वाच्च सर्वस्य नित्य आत्मैव केवलः ।
त्यजेत्तस्मात्क्रियाः सर्वाः साधनैः सह मोक्षवित् ॥४३॥

समस्त पदार्थ आत्मा के ही लिये हैं, अतः आत्मा ही नित्य एवं निरुपाधिक है, इसलिये मोक्षकामी पुरुष को साधनों के सहित समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिये ॥ ४३ ॥

आत्मलाभः परो लाभ इति शास्त्रोपपत्तयः ।
अलाभोऽन्यात्मलाभस्तु त्यजेत्तस्मादनात्मताम् ॥ ४४ ॥

आत्मलाभ ही परमलाभ है—ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है। अन्य पदार्थों का लाभ तो अलाभ ही है। इसलिए अनात्मबुद्धि का त्याग करना चाहिये ॥४४॥

गुणानां समभावस्य भ्रंशो न ह्युपपद्यते ।
अविद्यादेः प्रसुप्तत्वान्न चान्यो हेतुरुच्यते ॥ ४५ ॥

[अब सृष्टि के विषय में सांख्यवादी के मत का खण्डन करते हैं—] गुणों की साम्यावस्था का ध्वंस होना सम्भव नहीं है और [सर्गारम्भ से पूर्व] अविद्यादि अपने कारण में लीन रहते हैं; तथा इनसे भिन्न जो पुरुष है उसे [जगदुत्पत्ति का] कारण नहीं बतलाया जाता। [अतः सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि का होना सम्भव नहीं[2]] ॥ ४५ ॥

---

१ अध्यस्त पदार्थ की सत्ता अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती; जिस प्रकार रज्जु में प्रतीत होनेवाला सर्प रज्जु से पृथक् कहीं नहीं देखा जाता। इसी दृष्टि से सबका अधिष्ठान होने के कारण आत्मा को सबसे अभिन्न कहा है।

२ सांख्यसिद्धान्त में गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यदि ऐसा माना जाय कि प्रकृति के सर्गोन्मुख होने पर उसके गुणसाम्य में विषमता हो

इतरेतरहेतुत्वे प्रवृत्तिः स्यात्सदा न वा ।
नियमो न प्रवृत्तीनां गुणेष्वात्मनि वा भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि गुणों को परस्पर एक-दूसरे की प्रवृत्ति का कारण माना जाय तो उनमें सदा ही प्रवृत्ति रहेगी और या प्रवृत्ति होगी ही नहीं क्योंकि अथवा गुणों में उनकी प्रवृत्ति का नियामक कोई हेतु नहीं है ॥ ४६ ॥

विशेषो मुक्तबद्धानां तादर्थ्ये न च युज्यते ।
अर्थार्थिनोस्त्वसंबन्धो नार्थी ज्ञो नेतरोऽपि वा ॥ ४७ ॥

यदि प्रधान पुरुष के भोग-मोक्षादि के लिये है तो मुक्त एवं बद्ध भेद नहीं हो [1]सकता; किन्तु हमारे सिद्धान्तानुसार तो उनमें अर्थार्थी (शेपी) रूप सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि न तो जीव ही अर्थी है प्रधान ही[2] ॥ ४७ ॥

जाती है तो लक्षणगत अव्याप्ति दोष आता है। अतः उसमें विषमता सकती। यदि उनकी विषमता बिना किसी कारण के ही मानी जाय तो ही हो सकती है और यदि अविद्या एवं अदृष्ट आदि को उसका कारण प्रकृति के परिणाम से पूर्व वे उसीमें लीन रहते हैं, इसलिये वे उस परिणाम कारण हो नहीं सकते। इनसे भिन्न जो पुरुष है वह उदासीन है तथा वे सत्ता स्वीकार नहीं करते। इसलिये सांख्यसिद्धान्तानुसार सृष्टि का सर्वथा अनुपपन्न है।

१ क्योंकि एक ही प्रधान समस्त पुरुषों के लिये समान होने पर व्यापार से किसी का बन्धन और किसी का मोक्ष—ऐसा विभिन्न नहीं हो सकता।

२ अर्थ या शेष उस वस्तु को कहते हैं जिसकी अभिलाषा की और जो अभिलाषा करनेवाला होता है उसे अर्थी या शेषी कहते हैं। अर्थार्थिरूप सम्बन्ध प्रधान और पुरुष में होना सम्भव नहीं है, क्योंकि एकमात्र ज्ञानस्वरूप होने के कारण और प्रधान जड़ होने के कारण नहीं हो सकता।

प्रधानस्य च पारार्थ्यं पुरुषस्याविकारतः।
न युक्तं सांख्यशास्त्रेऽपि विकारेऽपि न युज्यते॥ ४८ ॥

पुरुष निर्विकार होने के कारण सांख्यशास्त्र में भी प्रधान की परार्थता युक्तियुक्त नहीं है, यदि उसका विकार भी माना जाय तो भी प्रधान का पुरुष के लिये होना सिद्ध नहीं हो सकता[1] ॥ ४८ ॥

संबन्धानुपपत्तेश्च प्रकृतेः पुरुषस्य च।
मिथोऽयुक्तं तदर्थत्वं प्रधानस्याचितित्वतः॥ ४९ ॥

प्रकृति और पुरुष का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने के कारण और प्रकृति के जड होने के कारण प्रधान का पुरुष के लिये होना सम्भव नहीं है[2] ॥ ४९ ॥

क्रियोत्पत्तौ विनाशित्वं ज्ञानमात्रे च पूर्ववत्।
निर्निमित्ते त्वनिर्मोक्षः प्रधानस्य प्रसज्यते॥ ५० ॥

पुरुष में क्रिया की उत्पत्ति मानने से तो उसका विनाशित्व सिद्ध होता है और उसमें ज्ञानमात्र क्रिया मानने से पूर्ववत् दोष आता है[3] तथा प्रधान की बिना किसी निमित्त के प्रवृत्ति मानी जाय तो पुरुष का कभी मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

---

१ यदि प्रधान को पुरुष के भोग-मोक्षादि के लिये माना जाय तो पुरुष को विकारी मानना होगा, क्योंकि यदि प्रधान के व्यापार से उसमें कोई फल ही न हुआ तो प्रधान की पुरुषार्थता ही क्या हुई? किन्तु सांख्यसिद्धान्त में पुरुष को निर्विकार माना है, इसलिये प्रधान उसका उपकारक नहीं हो सकता। यदि प्रधान के पारार्थ्य के लिये पुरुष को विकारी माना जाय तो उसको अनित्य मानना पड़ेगा और अनित्य पुरुष नित्य प्रधान का उपकार्य नहीं हो सकता।

२ पुरुष असंग और उदासीन है तथा प्रकृति जड है। इसलिये उन दोनों का उपकार्योपकारक-भाव होना सम्भव नहीं है।

३ क्योंकि यदि उसमें नित्यज्ञान माना जाय तो कूटस्थ होने के कारण प्रधान के व्यापार से पुरुष का कोई उपकार नहीं हो सकता और यदि अनित्य ज्ञान माने तो वह विकारी सिद्ध होगा।

न प्रकाश्यं यथोष्णत्वं ज्ञानेनैवं सुखादयः ।
एकनीडत्वतोऽग्राह्याः स्युः कणादादिवर्त्मनाम् ॥ ५१ ॥

[इस प्रकार निर्गुणवादी सांख्यमत का निराकरण कर अब सगुण वैशेषिक मत का निराकरण करते हैं-] जिस प्रकार अग्नि का उष्णत्व प्रकाश से प्रकाशित होनेवाला नहीं है उसी प्रकार वैशेषिक सिद्धान्त के एक ही आश्रय में स्थित होने के कारण आत्मगत ज्ञान से उसके आनन्द गुण ग्रहण नहीं किये जा सकते[1] ॥ ५१ ॥

युगपत्समवेतत्वं सुखविज्ञानयोरपि ।
मनोयोगैकहेतुत्वादग्राह्यत्वं सुखस्य च ॥ ५२ ॥

इसके सिवा सुख और ज्ञान का आत्मा के साथ एक ही समय सम्बन्ध होना भी सम्भव नहीं है। तथा सुख का ग्रहण आत्ममनःसंयोग होने के कारण सुख का ग्राह्यत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता[2] ॥ ५२ ॥

तथान्येषां च भिन्नत्वाद्युगपज्जन्म नेष्यते ।
गुणानां समवेतत्वं ज्ञानं चेन्न विशेषणात् ॥ ५३ ॥

इसी प्रकार परस्पर भिन्न होने के कारण [दुःख इच्छा प्रयत्नादि] गुणों का भी एक साथ उद्भव होना सम्भव नहीं है। यदि आत्मा के

---

१ वैशेषिकमतावलम्बी आत्मा को सुख, दुःख एवं ज्ञानादिगुण मानते हैं और आत्मगत सुखादि को आत्मनिष्ठ ज्ञान से ग्राह्य मानते हैं। श्लोक द्वारा उनके इस मत की अनुपपत्ति दिखलायी है।

२ वैशेषिक मत में ज्ञान और सुखादि का असमवायी कारण आत्म संयोग है और वह आत्ममनःसंयोग आत्मा के केवल एक ही गुणके प्रति होता है। अतः जिस समय सुखनिमित्तक आत्ममनःसंयोग होगा उस ज्ञाननिमित्तक संयोग न होने के कारण सुखका ज्ञान नहीं हो सकता और संयोग का नाश होने पर सुख का भी नाश हो जायगा। इस प्रकार किसी तरह सुखका ग्राह्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

उन सबका समवाय सम्बन्ध होना ही उनका ज्ञान है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ['ज्ञात सुख ज्ञात दुःख' इस प्रकार] उनका विशेषणरूप से व्यवहार देखा जाता है[1] ॥ ५३ ॥

ज्ञानेनैव विशेपत्वाज्ज्ञानाप्यत्वं स्मृतेस्तथा ।
सुखं ज्ञातं मयेत्येवं तवाज्ञानात्मकत्वतः ॥ ५४ ॥

ज्ञान द्वारा सुखादि के विशेषित होने से तथा 'मुझे सुख ज्ञात हुआ' ऐसी स्मृति होने से सुखादि ज्ञान द्वारा प्राप्त होनेवाले हैं; किन्तु तुम्हारे (वैशेपिकों के) मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप न होने के कारण सुखादि की सिद्धि नहीं हो सकती[2] ॥५४॥

सुखादेर्नात्मधर्मत्वमात्मनस्तेऽविकारतः ।
भेदादन्यस्य कस्मान्न मनसो वाऽविशेपतः ॥ ५५ ॥

तुम्हारे मतानुसार भी आत्मा निर्विकार होने के कारण सुखादि उसके धर्म तो हो नहीं सकते तथा भेद में कोई विशेपता न होने के कारण वे किसी आत्मान्तर या मनके धर्म क्यों न होंगे ?[3] ॥ ५५ ॥

---

१ इससे सुखादि आत्मा के गुण न होकर आत्मा के विपय सिद्ध होते हैं और आत्मा उनका साक्षी सिद्ध होता है ।

२ तुम्हारे सिद्धान्तानुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, अपितु मन के साथ आत्मा का संयोग होने पर उसमें ज्ञानादि गुणों का अनुभव होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा घटादि के समान केवल द्रव्यमात्र है, अतः जड़रूप होने के कारण उससे सुखादिकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

३ वैशेपिकों के मतानुसार आत्मा निर्विकार विभु और अनेक हैं । शरीरावच्छिन्न आत्मा के साथ मनका संयोग होने पर उसमें सुख-दुःखादि धर्मों का आविर्भाव हो जाता है । किन्तु शरीरस्थ मनका तो सभी आत्माओं के साथ समान सम्बन्ध है । ऐसी अवस्था में इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता कि जो धर्म किसी एक आत्मा के हैं वे किसी अन्य आत्मा या मनके न हों । अतः इस सिद्धान्त के अनुसार सुख-दुःखादि की कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती ।

स्यान्मालाऽपरिहार्या तु ज्ञानं चेज्ज्ञेयतां व्रजेत्।
युगपद्वापि चोत्पत्तिरभ्युपेताऽस्त इष्यते ॥ ५६ ॥

और यदि [तुम्हारे सिद्धान्तानुसार] एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का वि होता है तो उन ज्ञानों की अनवस्था अनिवार्य हो जायगी। और यदि उ एक साथ उत्पत्ति मानी जाय तो रूप रस आदि सभी ज्ञानों की एक उत्पत्ति माननी होगी[1] ॥ ५६ ॥

अनवस्थान्तरत्वाच्च बन्धो नात्मनि विद्यते।
नाशुद्धिश्चाप्यसङ्गत्वादसंगो हीति च श्रुतेः ॥ ५७ ॥

आत्मा का कोई अवस्थान्तर नहीं होगा, इसलिये उसमें बन्ध नहीं तथा "पुरुष असंग है" इस [2]श्रुति के अनुसार असंग होने के कारण अशुद्धि भी नहीं है ॥ ५७ ॥

सूक्ष्मैकागोचरेभ्यश्च न लिप्यत इति श्रुतेः ॥ ५८ ॥

[इसके सिवा] सूक्ष्मत्व, अद्वितीयत्व और अविषयत्वरूप हेतुओं से "आत्मा लोकदुःखों से लिप्त नहीं होता" इस [3]श्रुति से भी [आत्मा शुद्ध है] ॥ ५८ ॥

---

१ वैशेषिकों के मतानुसार विषयज्ञान व्यवसायात्मक है और इसका अनुव्यवसायात्मक है। प्रत्येक व्यवसायात्मक ज्ञान अपने अनुव्यवसायात्मक का विषय होता है। इस प्रकार ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय माने अनुव्यवसायात्मक ज्ञान भी दूसरे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का और दूसरा का विषय होगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। इसके सिवाय दूसरी यह भी है कि प्रत्येक ज्ञान किसी पूर्ववर्ती ज्ञानकी अपेक्षा से ही होता है। भी अनवस्थादोष होगा। इसलिये ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय मानना नहीं। और यदि समस्त ज्ञानों को एक ही आत्ममनःसंयोग से उत्पन्न माना जाय तो शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि सभी ज्ञान एक साथ हो जायँगे।

२. 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'।

३. 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'।

एवं तर्हि न मोक्षोऽस्ति बन्धाभावात्कथंचन ।
शास्त्रानर्थक्यमेव स्यान्न बुद्धेर्भ्रान्तिरिष्यते ।
बन्धो मोक्षश्च तन्नाशः स यथोक्तो न चान्यथा ॥ ५९ ॥

[प्रश्न—] यदि ऐसा है तब तो बन्ध का अभाव होने के कारण किसी प्रकार मोक्ष भी नहीं हो सकता और इससे मोक्षप्रतिपादक शास्त्र की व्यर्थता ही सिद्ध होगी ! [उत्तर—] ऐसी बात नहीं है, क्योंकि बुद्धि की भ्रान्ति को बन्धन और उस भ्रान्ति के नाश को मोक्ष माना गया है । इस प्रकार के मोक्ष का पहले वर्णन किया जा चुका है, इससे भिन्न और किसी प्रकार का मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

बोधात्मज्योतिषा दीप्ता बोधमात्मनि मन्यते ।
बुद्धिर्नान्योऽस्ति बोद्धेति सेयं भ्रान्तिर्हि धीगता ॥६०॥

ज्ञानस्वरूप आत्मा से प्रकाशित हुई बुद्धि अपने ही में ज्ञान मानती है और ऐसा समझती है कि मेरे से भिन्न कोई और बोद्धा नहीं है । यह बुद्धि की भ्रान्ति ही है ॥ ६० ॥

बोधस्यात्मस्वरूपत्वान्नित्यं तत्रोपचर्यते ।
अविवेकोऽप्यनाद्योऽयं संसारो नान्य इष्यते ॥ ६१ ॥

बोध तो सर्वदा आत्मा का ही स्वरूप है । बुद्धि में तो उसका उपचार होता है । यह अविवेक भी अनादि है । इसके सिवा अन्य कोई संसार नहीं है॥६१॥

मोक्षस्तन्नाश एव स्यान्नान्यथानुपपत्तितः ।
येषां वस्त्वन्तरापत्तिर्मोक्षो नाशस्तु तैर्मतः ॥ ६२ ॥

उस अज्ञान का नाश ही मोक्ष है; किसी प्रकार उत्पन्न न होने के कारण अन्य कोई मोक्ष नहीं है । जिनके मत में आत्मा का किसी अन्य वस्तु के तादात्म्य को प्राप्त होना मोक्ष है वे इस प्रकार आत्मा का नाश भी स्वीकार करते हैं ॥ ६२ ॥

अवस्थान्तरमप्येवमविकारान्न युज्यते ।
विकारोऽवयवित्वं स्यात्ततो नाशो घटादिवत् ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार निर्विकार होने के कारण आत्मा का अवस्थान्तर होना सम्भव नहीं है। यदि उसमें विकार माना जाय तो उसकी सावयवता होगी और ऐसी अवस्था में घटादि के समान उसका नाश हो जाना चाहिये ॥ ६३ ॥

तस्माद् भ्रान्तिरतोऽन्या हि बन्धमोक्षादिकल्पनाः ।
सांख्यकाणादबौद्धानां मीमांसाहतकल्पनाः ॥ ६४ ॥

अतः इस वेदान्त-सिद्धान्त से भिन्न जो बन्ध-मोक्षादि की कल्पना है वह भ्रममात्र है। सांख्य, काणाद और बौद्ध मतावलम्बियों की वे कल्पनाएँ सर्वथा विचारशून्य हैं ॥ ६४ ॥

शास्त्रयुक्तिविहीनत्वान्नादर्तव्याः कदाचन ।
शक्यन्ते शतशो वक्तुं दोषास्तासां सहस्रशः ॥ ६५ ॥

शास्त्र और युक्ति से विरुद्ध होने के कारण वे कल्पनाएँ किसी भी प्रकार आदरणीय नहीं हैं, क्योंकि उनमें तो सैकड़ों-हजारों दोष बतलाये जा सकते हैं ॥ ६५ ॥

अपि निन्दोपपत्तेश्च यान्यतोऽन्यानि चेत्यतः ।
त्यक्त्वातो ह्यन्यशास्त्रोक्तीर्मतिं कुर्याद् दृढां बुधः ॥ ६६ ॥

"यान्यतोऽन्यानि" इत्यादि [1]वचन से वेदान्तभिन्न शास्त्रों की

---

१ वे वचन इस प्रकार हैं—

यान्यतोऽन्यानि शास्त्राणि पृथिव्यां विविधानि च ।
शङ्कनीयानि विद्वद्भिर्धर्मबुद्धिसमीप्सुभिः ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

तात्पर्य यह कि इस वेदान्त-शास्त्र से भिन्न पृथ्वी में और जितने

सिद्ध होती है। अतः इससे भिन्न शास्त्रों के कथन की उपेक्षा कर बुद्धिमान् पुरुष को वेदान्त में ही दृढ निष्ठा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

श्रद्धाभक्ती पुरस्कृत्य हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
वेदान्तस्यैव तत्त्वार्थे व्यासस्याभिमतो तथा ॥ ६७ ॥

विद्वान् को सब प्रकार की कुटिलता छोड़कर श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक भगवान् व्यास के अभिमत वेदान्त वेद्य तत्त्व में दृढ बुद्धि करनी चाहिये ॥६७॥

इति श्रणुन्ना द्वयवादकल्पना निरात्मवादाश्च तथाहि युक्तितः ।
व्यपेतशङ्काः परवादतः स्थिरा मुमुक्षवो ज्ञानपथे स्युरित्युत ॥६८॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक द्वैतवाद सम्बन्धी कल्पना और निरात्मवाद का खण्डन किया गया, जिससे कि मुमुक्षुगण अन्य वादों की ओर से निःशङ्क होकर ज्ञानमार्ग में स्थिर हो जायँ ॥ ६८ ॥

स्वसाक्षिकं ज्ञानमतीव निर्मलं विकल्पनाभ्यो विपरीतमद्वयम् ।
अवाप्य सम्यग्यदि निश्चितो भवेन्निरन्वयो निर्वृतिमेति शाश्वतीम् ६९

इस आत्मसाक्षिक, अत्यन्त निर्मल, सब प्रकार की कल्पनाओं से विरुद्ध और अद्वय ज्ञान को प्राप्त कर यदि साधक सम्यक् प्रकार से निश्चित हो जाय तो सारे सम्बन्धों से रहित हो नित्य शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥६९॥

इदं रहस्यं परमं परायणं व्यपेतदोषैरभिमानवर्जितैः ।
समीक्ष्य कार्या मतिरार्जवे सदा न तत्त्वदृक्स्वान्यमतिर्हि कश्चन॥७०॥

निर्दोष और निरभिमान पुरुषों को इस स्वाश्रयभूत परम रहस्य की आलोचना कर सदा ही समस्वरूप ब्रह्म में निष्ठा करनी चाहिये। आत्मा से भिन्न वस्तु में निष्ठा रखनेवाला [अर्थात् अपने उपास्य को आत्मा से भिन्न माननेवाला] कोई भी पुरुष तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता ॥ ७० ॥

तरह-तरह के शास्त्र हैं, धर्म की शुद्धि चाहनेवाले विद्वान् पुरुषों को उन सबसे ...रांक रहना चाहिये। जितनी भी वेदसिद्ध स्मृतियाँ और जो कुछ भी दृष्टियाँ ... वे सभी निष्फल हैं और मरने पर नरक में ले जानेवाली हैं मानी गयी हैं।

अनेकजन्मान्तरसंचितैर्नरो विमुच्यतेऽज्ञाननिमित्तपातकैः ।
इदं विदित्वा परमं हि पावनं न लिप्यते व्योम इवेह कर्मभिः ॥७१॥

इस परमपवित्र आत्मतत्त्व का ज्ञान पाकर पुरुष जन्मान्तर में सञ्चित अज्ञान जनित पापों से मुक्त हो जाता है और फिर आकाश के समान इस [लोक] में कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ ७१ ॥

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ॥७२॥

[गुरु को चाहिये कि] जो अत्यन्त शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, दोष[रहित], शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुसरण करनेवाला, गुणवान्, अपने अनुकूल रहने[वाला] और मोक्षकामी शिष्य हो सर्वदा उसी को यह आत्मज्ञान प्रदान करे ॥ ७२ ॥

परस्य देहे न यथाभिमानिता परस्य तद्वत्परमार्थमीक्ष्य च ।
इदं हि विज्ञानमतीव निर्मलं संप्राप्य मुक्तोऽथ भवेच्च सर्वतः ॥७३॥

जिस प्रकार दूसरे पुरुष के शरीर में दूसरे पुरुष को अभिमान नहीं [होता] उसी प्रकार [अपने शरीर में भी] परमार्थतत्त्व का साक्षात्कार कर [यह] अत्यन्त निर्मल विज्ञान को प्राप्त कर पुरुष सब ओर से मुक्त हो जाय ॥ [७३ ॥]

नहीह लाभोऽभ्यधिकोऽस्ति कश्चन स्वरूपलाभात्स इ[ह] नान्यतः । न देयमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकं स्वरूपलाभं [प]रीक्ष्य यत्नतः ॥ ७४ ॥

इस संसार में आत्मज्ञान से बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं है; [वह] वेदान्तवाक्यों से ही हो सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं। [इस] आत्मलाभ को, जो इन्द्रलोक के राज्य से भी बढ़कर है, यत्नपूर्वक परी[क्षा किये] बिना नहीं देना चाहिये ॥ ७४ ॥

सम्यङ्मतिप्रकरणम् ॥ १७ ॥

आत्मा ज्ञेयः परो ह्यात्मा यस्मादन्यन्न विद्यते ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्धस्तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ १ ॥

आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि वह समस्त ज्ञेय पदार्थों से उत्कृष्ट है तथा उससे भिन्न कोई और पदार्थ नहीं है। वह सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और शुद्ध है, उस ज्ञेयस्वरूप आत्मा को नमस्कार है ॥ १ ॥

पदवाक्यप्रमाणज्ञैर्दीपभूतैः प्रकाशितम् ।
ब्रह्म वेदरहस्यं यैस्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

पद, वाक्य और प्रमाण के रहस्य को जाननेवाले जिन दीपकस्वरूप गुरुदेव ने ब्रह्म और वेद के रहस्य को प्रकट किया है उन्हें मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

यद्वाक्सूर्यांशुसंपातप्रनष्टध्वान्तकल्मषः ।
प्रणम्य तान्गुरून्वक्ष्ये ब्रह्मविद्याविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

जिनके वाक्यरूप सूर्यरश्मियों के गिरने से मेरी अज्ञानरूपा पापराशि का नाश हो गया है उन श्री गुरुदेव को प्रणाम कर मैं ब्रह्मविद्या का निश्चय कराने वाले एक विशेष न्याय का वर्णन करता हूँ ॥ ३ ॥

आत्मलाभात्परो नान्यो लाभः कश्चन विद्यते ।
यदर्था वेदवादाश्च स्मार्ताश्चापि तु याः क्रियाः ॥ ४ ॥

जिसके लिये समस्त वेदवाद और स्मार्त क्रियाएँ हैं उस आत्मलाभ से बढ़कर कोई और लाभ नहीं है ॥ ४ ॥

आत्मार्थोऽपि हि यो लाभः सुखायेष्टो विपर्ययः ।
आत्मलाभः परः प्रोक्तो नित्यत्वाद्ब्रह्मवेदिभिः ॥ ५ ॥

लोक में जो [पुत्र-धनादि] लाभ सुख के हेतु माने गये हैं वे भी आत्मा के ही लिये इष्ट हैं और [किसी-किसी के लिये किसी समय] वे दुःखरूप भी हो जाते हैं। किन्तु नित्य होने के कारण ब्रह्मवेत्ताओंने आत्मलाभ को परमलाभ कहा है ॥५॥

स्वयं लब्धस्वभावत्वाल्लाभस्तस्य न चान्यतः ।
अन्यापेक्षस्तु यो लाभः सोऽन्यदृष्टिसमुद्भवः ॥ ६ ॥

आत्मा नित्यप्राप्तस्वरूप है, इसलिये किसी अन्य के द्वारा उसकी नहीं हो सकती । जो लाभ अन्य (पुत्रादि) की अपेक्षा रखता है वह साधनों से उत्पन्न होने वाला होता है [अतः उनका अभाव होने पर उस अभाव हो जाने के कारण वह अनित्य है] ॥ ६ ॥

अन्यदृष्टिस्त्वविद्या स्यात्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
ज्ञानेनैव तु सोऽपि स्याद्विरोधित्वान्न कर्मणा ॥ ७ ॥

अन्यदृष्टि (अनात्मा में आत्मदृष्टि) का नाम अविद्या है और उस मोक्ष कहा जाता है । किन्तु वह (मोक्ष) ज्ञान से ही हो सकता है, नहीं; क्योंकि वही अज्ञान का विरोधी है ॥ ७ ॥

कर्मकार्यस्त्वनित्यः स्यादविद्याकामकारणः ।
प्रमाणं वेद एवात्र ज्ञानस्याधिगमे स्मृतः ॥ ८ ॥

कर्म का फल अनित्य होता है, अविद्याजनित कामना ही उसकी होती है तथा इस ज्ञानप्राप्ति में वेद को ही प्रमाण माना है ॥ ८ ॥

ज्ञानैकार्थपरत्वात्तं वाक्यमेकं ततो विदुः ।
एकत्वं ह्यात्मनो ज्ञेयं वाक्यार्थप्रतिपत्तितः ॥ ९ ॥

एक मात्र ज्ञानरूप प्रयोजनवाला होने से पण्डितजन वेद को एक मानते हैं । उसके वाक्यों के ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि अवान्तर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के) अर्थज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञातव्य है ॥ ९ ॥

वाच्यभेदात्तु तद्भेदः कल्प्यो वाच्यो हि तच्छ्रुतेः ।
त्रयं त्वेतत्ततः प्रोक्तं रूपं नाम च कर्म च ॥ १० ॥

[यदि कहो कि 'आत्मा' 'ब्रह्म' इत्यादि शब्द पर्याय न होने इनके वाच्य आत्मा और ब्रह्म में भी अभेद नहीं हो सकता तो ऐसा

नहीं, क्योंकि] वाच्यों के भेद से शब्दभेद और शब्दभेद से वाच्यभेद की कल्पना की जाती है; [अतः उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय दोष है]। इसीसे श्रुति ने इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को [समग्ररूप से] नाम रूप और कर्म त्रयरूप कहा है[1] ॥ १० ॥

असदेतत्त्रयं तस्मादन्योन्येन हि कल्पितम् ।
कृतो वर्णो यथा शब्दाच्छ्रुतोऽन्यत्र धिया बहिः ॥ ११ ॥

क्योंकि इन तीनों की परस्पर एक दूसरे से कल्पना होती है। इसलिये ये मिथ्या हैं; जिस प्रकार कि शब्द द्वारा सुने हुए एवं बुद्धिपूर्वक बाहर [भित्ती आदि पर] लिखे हुए वर्ण मिथ्या होते हैं ॥ ११ ॥

दृष्टं चापि यथारूपं बुद्धेः शब्दाय कल्पते ।
एवमेतज्जगत्सर्वं भ्रान्तिबुद्धिविकल्पितम् ॥ १२ ॥

तथा जिस प्रकार चित्रादि में देखा हुआ रूप बुद्धि के लिये शब्द व्यवहार का कारण होता है उसी प्रकार यह सारा जगत् भ्रान्तबुद्धि द्वारा कल्पना किया हुआ है[2] ॥ १२ ॥

असदेतत्ततो युक्तं सच्चिन्मात्रं न कल्पितम् ।
वेदश्चापि स एवाद्यो वेद्यं चान्यत्तु कल्पितम् ॥ १३ ॥

---

१ 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इस श्रुति में समस्त शब्दविशेष का वाङ्मात्रत्व, रूपविशेष का चक्षुर्मात्रत्व और कर्मविशेष का शरीरमात्रत्व प्रतिपादन किया है। फिर इनके भेद का निराकरण कर उसे सामान्यरूप से इनका त्रित्व बतलाकर ये तीनों एकमात्र 'सत्' आत्मा ही हैं ऐसा बतलाया है। इस प्रकार अन्त में यह सिद्ध किया है कि यह एकमात्र सत्स्वरूप आत्मा ही है, ये तीन नहीं हैं और यह सम्पूर्ण जगत् एक आत्मस्वरूप ही है, इसमें तात्त्विक भेद नहीं है।

२ तात्पर्य यह है कि जब हम चित्र में कोई देवता आदि का रूप देखते हैं तो वह देखा हुआ कल्पित देवता 'यह अमुक देव है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न करके शब्द व्यवहार का हेतु होता है, अतः कल्पनाजनित होने के कारण वह मिथ्या ही है। इसी प्रकार यह सारा जगत् भी भ्रमजनित होने के कारण मिथ्या है।

इसलिये यह सब मिथ्या है—ऐसा कहना उचित ही है। केवल सर्व
आत्मा कल्पित नहीं है तथा वह पूर्वसिद्ध आत्मा ही [1]वेद और वेद्य है।
भिन्न सब कल्पित है ॥ १३ ॥

येन वेत्ति स वेदः स्यात्स्वप्ने सर्वं तु मायया।
येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ॥ १४ ॥

स्वप्नावस्था में जिसके द्वारा समस्त स्वाप्न पदार्थों का ज्ञान होता
वेद है तथा उस अवस्था में समस्त वेद्यवर्ग भी माया से कल्पना कि
वह (स्वप्नद्रष्टा) ही है[2]। उस समय जिसके द्वारा जीव देखता है व
है और जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र कहलाता है ॥ १४ ॥

येन स्वप्नगतो वक्ति सा वाग्घ्राणं तथैव च।
रसनस्पर्शने चैव मनश्चान्यत्तथेन्द्रियम् ॥ १५ ॥

जिसके द्वारा स्वप्न में बोलता है वह वाणी है और जिससे सूँघ
घ्राण कहलाता है। इसी प्रकार रसना, त्वचा और मनरूप अन्य इन्द्रि
समझना चाहिये ॥ १५ ॥

कल्प्योपाधिभिरेवैतद्भिन्नं ज्ञानमनेकधा।
आधिभेदाद्यथा भेदो मणेरेकस्य जायते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार [नील, पीतादि] उपाधियों के भेद से एक ही मणि
की प्रतीति होने लगती है उसी प्रकार स्वप्नकल्पित उपाधियों के कारण
ही ज्ञान अनेक प्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाता है[3] ॥ १६ ॥

१ ज्ञान के हेतुभूत, श्रुति और आचार्य, ये भी आत्मस्वरूप ही है
आत्मा से भिन्न अन्य जड पदार्थों में अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य नहीं है।

२ क्योंकि स्वप्न में 'न तत्र रथा न रथयोगाः' इत्यादि श्रुति के
बाह्य विषयसमूह का अभाव है। उस समय मायाकृत उपाधिभेद
प्रकाश आत्मा ही वेद्य और वेदनरूप से स्थित होता है।

३ वस्तुतः ज्ञान एक ही है। किन्तु चक्षुःश्रोत्रादि विभिन्न उ
कारण चाक्षुषज्ञान, श्रावणज्ञान आदि विभिन्न रूप से व्यवहार किया

जाग्रतश्च यथा भेदो ज्ञानस्यास्य विकल्पितः ।
बुद्धिस्थं व्याकरोत्यर्थं भ्रान्त्या तृष्णोद्भवक्रियः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में कल्पित उपाधियों के कारण ज्ञान का भेद है उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्था के ज्ञान का भेद भी आरोपित है। जिसमें अज्ञानवश कामनाजनित क्रिया की प्रतीति होती है वह जीव बुद्धिस्थ विषय को आत्मगत समझते हुए व्यवहार करता है ॥ १७ ॥

स्वप्ने तद्वत्प्रबोधे यो बहिश्चान्तस्तथैव च ।
आलेख्याध्ययने यद्वत्तदन्योन्यधियोद्भवम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में व्यवहार होता है वैसे ही जाग्रत् में भी होता है। इसी तरह स्वप्न के समान जाग्रत् में भी आन्तर-बहिर्भाव की कल्पना होती है, जिस प्रकार कि पत्रादि का लेख और उसका अध्ययन—ये दोनों परस्पर सापेक्ष बुद्धि से होते हैं [अतः मिथ्या हैं][1] ॥ १८ ॥

यदायं कल्पयेद्भेदं तत्कामः सन्यथाक्रतुः ।
यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा कृतं यत्तत्प्रपद्यते ॥ १९ ॥

जिस समय यह जीव भेद की कल्पना करता है उस समय वैसी कामना-वाला होकर वैसा ही संकल्प करता है। इस प्रकार इसकी जैसी कामना होती है वैसे ही संकल्पवाला होकर यह अपने किये हुए कर्म का फल प्राप्त करता है ॥१९॥

१ जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त के भीतर कल्पना किये जाने वाले और बाहर इन्द्रियों द्वारा गृहीत होनेवाले दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं उसी प्रकार जाग्रत-अवस्था में भी दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त समझना चाहिये—लोक में जिस समय क ख आदि वर्ण पत्र में लिखे जाते हैं तो उस समय उन वर्णों की अपेक्षा से उन्हें पढ़ा जाता है और उनके पाठ की अपेक्षा से लिखा जाता है। अतः वे परस्पर के ज्ञान द्वारा कल्पित होने के कारण मिथ्या हैं, क्योंकि वस्तुतः वर्ण विभु और नित्य हैं। उनको पत्रादि में लिखना या पढ़ना सम्भव नहीं है। तो भी विभु वर्ण को रेखारूप से पत्रादि पर लिखते ही हैं और उसे देखकर पढ़ते भी हैं।

अविद्याप्रभवं सर्वमसत्तस्मादिदं जगत् ।
तद्वता दृश्यते यस्मात्सुषुप्ते न च गृह्यते ॥ २० ॥

यह सारा जगत् अविद्याजनित है, इसलिये मिथ्या है, क्योंकि यह अवि
पुरुष को ही दिखायी देता है और सुषुप्ति में इसकी प्रतीति भी नहीं होती।

विद्याविद्ये श्रुतिप्रोक्ते एकत्वान्यधियौ हि नः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्रे विद्या विधीयते ॥ २१ ॥

हमारे आत्मैक्यज्ञान और भेदज्ञान ही श्रुतिप्रतिपादित ज्ञान और
हैं। [क्योंकि अज्ञान के समान ज्ञानका सर्वसाधारण को अनुभव न
इसलिये शास्त्र में सारा प्रयत्न लगाकर ज्ञान का ही प्रतिपादन किया है ॥२

चित्ते ह्यादर्शवद्यस्माच्छुद्धे विद्या प्रकाशते ।
यमैर्नित्यैश्च यज्ञैश्च तपोभिस्तस्य शोधनम् ॥ २२ ॥

क्योंकि ज्ञान का प्रकाश दर्पण के समान शुद्ध हुए चित्त में ही
इसलिये यम, नियम, यज्ञ और तपद्वारा उसकी शुद्धि करनी चाहिये ॥ २

शारीरादि तपः कुर्यात्तद्विशुद्ध्यर्थमुत्तमम् ।
मनआदिसमाधानं तत्तद्देहविशोषणम् ॥ २३ ॥

चित्त की शुद्धि के लिये उत्तम प्रकार से शारीरिक, मानसिक एवं
तप करना चाहिये। तथा मन और इन्द्रियों का समाधान एवं
ऋतुओं में [शीतोष्णादि को सहन करते हुए] शरीर की कृशता
करनी चाहिये ॥ २३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ २४ ॥

[मनुस्मृति का कथन है कि] मन और इन्द्रियों की एकाग्रता
तप है। वह समस्त धर्मों से उत्कृष्ट है और वही परम धर्म कहा जाता है

दृष्टं जागरितं विद्यात्स्मृतं स्वप्नं तदेव ।
सुषुप्तं तदभावं च स्वमात्मानं परं पदम् ॥ २५ ॥

जो कुछ देखा जाता है उसे जाग्रत् समझो, वही स्मरण किये जाने पर स्वप्न है, उसका अभाव सुषुप्ति है तथा स्वयं आत्मा ही परमपद (सत्यज्ञानादि-रूप पर ब्रह्म है) ॥ २५ ॥

सुषुप्तयाख्यं तमोऽज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः ।
स्वात्मबोधप्रदग्धं स्याद्बीजं दग्धं यथाभवम् ॥ २६ ॥

सुषुप्तिसंज्ञक जो तम है वही अज्ञान है; वह स्वप्न और जागरित का मूल कारण है। वह आत्मज्ञान-द्वारा दग्ध होनेपर दग्ध हुए बीज के समान फलोत्पादक नहीं होता ॥ २६ ॥

तदेवैकं त्रिधा ज्ञेयं मायाबीजं पुनः क्रमात् ।
मायाव्यात्माविकारोऽपि बहुधैको जलार्कवत् ॥ २७ ॥

इस एक मायाबीज को ही सुषुप्ति आदि क्रम से तीन प्रकार का जानना चाहिये। माया का आश्रयभूत आत्मा निर्विकार होनेपर भी जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य के समान अनेक-सा जान पड़ता है ॥ २७ ॥

बीजं चैकं यथा भिन्नं प्राणस्वप्नादिभिस्तथा ।
स्वप्नजाग्रच्छरीरेषु तद्वच्चात्मा जलेन्दुवत् ॥ २८ ॥

जिस प्रकार एक ही कारणरूपा माया अव्याकृत, स्वप्न एवं जाग्रदादि अवस्थाओं के रूप में भेद को प्राप्त हो रही है उसी प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान स्वप्न एवं जाग्रदादि शरीरों में एक ही आत्मा [समष्टि-व्यष्टि भेद से तैजस-हिरण्यगर्भ एवं विश्व-वैश्वानरादि] भेदरूप से प्रकाशित हो रहा है ॥ २८ ॥

मायाहस्तिनमारुह्य मायाव्येको यथा व्रजेत् ।
आगच्छंस्तद्वदेवात्मा प्राणस्वप्नादिगोचरः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार कोई मायावी अपने रचे हुए मायिक हाथी पर चढ़कर किसी देशान्तर में जाय और फिर इष्ट देश में आ जाय [किन्तु वस्तुतः वह अचल ही रहता है], उसी प्रकार सुषुप्ति एवं स्वप्नादि अवस्थाओं में आते-जाते हुए भी वस्तुतः आत्मा कूटस्थ ही है ॥ २९ ॥

न हस्ती न तदारूढो मायाव्यन्यो यथास्थितः ।
न प्राणादि न तद्द्रष्टा तथा ज्ञोऽन्यः सदादृशिः ॥ ३०॥

जिस प्रकार हाथी या उस पर चढ़ा हुआ पुरुष—ये दोनों नहीं है, उससे भिन्न मायावी ही है; उसी प्रकार अव्याकृतादि अवस्था और साक्षी—ये दोनों नहीं हैं; नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा इनसे भिन्न ही है ॥ ३०॥

अबद्धचक्षुषो नास्ति माया मायाविनोऽपि वा ।
बद्धाक्षस्यैव सा मायाऽमायाव्येव ततो भवेत् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार जिसके नेत्र बँधे हुए नहीं हैं उस पुरुष की दृष्टि में मा... है उसी प्रकार मायावी की दृष्टि में भी उसका अभाव है । वह माया ... उसी की दृष्टि में है जिसके नेत्र बँधे हुए हैं । अतः यह आत्मा अ... (माया से उपलक्षित उसका आधारमात्र) ही है ॥ ३१ ॥

साक्षाद्देवः स विज्ञेयः साक्षादात्मेति च श्रुतेः ।
भिद्यते हृदयग्रन्थिर्न चेदित्यादितः श्रुतेः ॥ ३२ ॥

'वह साक्षात् आत्मा है' इत्यादि [1]श्रुति के अनुसार उस आत्मा... साक्षात् ब्रह्म समझना चाहिये । "उसको जान लेने पर हृदय की ग्र... जाती है" "यदि उसे न जाना तो बड़ी हानि है" इत्यादि श्रुतियों[2] से ... सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

अशब्दादित्वतो नास्य ग्रहणं चेन्द्रियैर्भवेत् ।
सुखादिभ्यस्तथान्यत्वाद्बुध्या वापि कथं भवेत् ॥३३॥

अशब्दादिरूप होने के कारण भी इसका इन्द्रियों से भी ग्रहण ...

---

१ इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली ये श्रुतियाँ हैं—"यत्साक्षादपरोक्षा... "य आत्मा सर्वान्तरः" ।

२ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य ... तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।"

सकता। इसी प्रकार सुखादि से भिन्न होने के कारण बुद्धि से भी किस प्रकार इसका ग्रहण हो सकता है?॥ ३३॥

अदृश्योऽपि यथा राहुश्चन्द्रे बिम्बं यथाम्भसि।
सर्वगोऽपि तथैवात्मा बुद्धावेव स गृह्यते॥ ३४॥

जिस प्रकार अदृश्य होनेपर भी चन्द्रमा में राहु का और जल में प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है उसी प्रकार सर्वव्यापक होनेपर भी बुद्धि में ही आत्मा का ग्रहण होता है॥ ३४॥

भानोर्बिम्बं यथा चौष्ण्यं जले दृष्टं न चाम्भसः।
बुद्धौ बोधो न तद्धर्मस्तथैव स्याद्विधर्मतः॥ ३५॥

जिस प्रकार जल में दिखायी देनेवाला सूर्य का बिम्ब और उष्णता जल के धर्म नहीं हैं उसी प्रकार बुद्धि में प्रकाशित होनेवाला ज्ञान बुद्धि का धर्म नहीं है, क्योंकि बुद्धि इससे विपरीत धर्मवाली [यानी जड] है॥ ३५॥

चक्षुर्युक्ता धियो वृत्तिर्या तां पश्यन्नलुप्तदृक्।
दृष्टेर्द्रष्टा भवेदात्मा श्रुते श्रोता तथा भवेत्॥ ३६॥

नेत्रेन्द्रिय से युक्त जो बुद्धि की वृत्ति है उसे देखने के कारण अलुप्तदृक् आत्मा दृष्टि का द्रष्टा और श्रवण का श्रोता होता है॥ ३६॥

केवलां मनसो वृत्तिं पश्यन्मन्ता मतेरजः।
विज्ञाताऽलुप्तशक्तित्वात्तथा शास्त्रं नहीत्यतः॥ ३७॥

[इसी प्रकार] केवल मन की वृत्ति को देखने के कारण वह अजन्मा आत्मा मति का मनन करनेवाला एवं उसका विज्ञाता है, क्योंकि वह अकुण्ठित चैतन्यशक्तियुक्त है। इस विषय में "विज्ञाता के विज्ञान का लोप नहीं होता" ऐसी श्रुति भी है॥ ३७॥

ध्यायतीत्यविकारित्वं तथा लेलायतीत्यपि।
अत्र स्तेनेति शुद्धत्वं तथाऽनन्वागतं श्रुतेः॥ ३८॥

"आत्मा मानो ध्यान करता है", "वह मानो चेष्टा करता है" इन श्रुतियों

से आत्मा का अविकारित्व सिद्ध होता है। तथा "इस अवस्था में चोर ... हो जाता है" "वह पुण्य से रहित है, पाप से रहित है" इत्यादि श्रु... उसका शुद्धत्व सिद्ध होता है ॥ ३८ ॥

शक्त्यलोपात्सुपुप्ते ज्ञस्तथा बोधेऽविकारतः ।
ज्ञेयस्यैव विशेषस्तु यत्र वेति श्रुतेर्वचः ॥ ३९ ॥

सुषुप्ति अवस्था में शक्ति का लोप न होने के कारण आत्मा ज्ञानस्व... इसी प्रकार अविकारी होने के कारण जाग्रत् अवस्था में भी वह ज्ञानस्व... विशेष भाव तो केवल ज्ञेय में ही है। इस विषय में "जहाँ अन्य-सा है वहीं अन्य अन्य को देखता है" इत्यादि श्रुति का वचन प्रमाण है ॥३९॥

व्यवधानाद्धि पारोक्ष्यं लोकदृष्टेरनात्मनः ।
दृष्टेरात्मस्वरूपत्वात्प्रत्यक्षं ब्रह्म तत्स्मृतम् ॥ ४० ॥

अनात्मा (घटादि) को ग्रहण करनेवाली [चक्षु आदि] लौकिक [देश-कालादि से] व्यवहित होने के कारण परोक्ष है और स्वयं दृष्टि स्वरूपा है; इसलिये ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्रत्यक्ष बतलाते हैं[1] ॥ ४० ॥

नहि दीपान्तरापेक्षा यद्वद्दीपप्रकाशने ।
बोधस्यात्मस्वरूपत्वान्न बोधोऽन्यस्तथेष्यते ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य दी... अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार बोध आत्मस्वरूप होने के कारण उसे [अपने प्रकाश में] किसी अन्य बोध की अपेक्षा नहीं होती ॥ ४१ ॥

विषयत्वं विकारित्वं नानात्वं वा नहीष्यते ।
न हेयो नाप्युपादेय आत्मा नान्येन वा ततः ॥ ४२ ॥

---

१ दृष्टि दो प्रकार की है लौकिक और अलौकिक। चक्षुरादि इन्द्रिय... दृष्टि लौकिक है तथा आत्मस्वरूपभूता ज्ञानदृष्टि अलौकिक है। चक्षुरादि ... से उसके विषय घटादि का व्यवधान है। इसलिये वह परोक्ष दृष्टि है तथा ... और ब्रह्म में अभेद होने के कारण ब्रह्म सर्वदा प्रत्यक्ष है। वह दृष्टि भी ... स्वरूपा है, अतः उसमें परोक्षत्वकी कोई सम्भावना नहीं है।

आत्मा का विषयत्व विकारित्व और नानात्व भी नहीं माना जा सकता। अतः आत्मा अपने अथवा किसी अन्य के द्वारा ग्राह्य या त्याज्य भी नहीं है ॥४२॥

सबाह्याभ्यन्तरोऽजीर्णो जन्ममृत्युजरातिगः।
अहमात्मेति यो वेत्ति कुतोऽन्वेव बिभेति सः॥ ४३ ॥

'मैं बाहर-भीतर विद्यमान, प्राचीनता से रहित तथा जन्म मृत्यु और वृद्धत्व से रहित आत्मा हूँ' ऐसा जो जानता है वह किसी से क्यों डर सकता है ? ॥ ४३ ॥

प्रागेवैतद्विधेः कर्म वर्णित्वादेरपोहनात्।
तदस्थूलादिशास्त्रेभ्यस्तत्त्वमेवेति निश्चयात् ॥ ४४ ॥

'आत्मा अस्थूल है, अनणु है' इत्यादि श्रुति के द्वारा आत्मा [कर्माधिकार-भूत] वर्णित्वादि का निराकरण किया जाने के कारण 'तुम वह (ब्रह्म) इस महावाक्य द्वारा अपने ब्रह्मत्व का निश्चय होने से पूर्व ही 'याव-अग्निहोत्र करे' इस शास्त्रद्वारा प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान करना है ॥ ४४ ॥

सूत्रेदेहपरित्यागे जात्यादीनां प्रहाणतः।
देहस्यैव तु जात्यादिस्तस्याप्येवं ह्यनात्मता ॥ ४५ ॥

पूर्वदेह का त्याग होने पर उसकी जाति आदि का भी त्याग हो जाता है; अतः ये जाति आदि देह के ही धर्म हैं; तथा [जिस प्रकार आगमापायी होने के कारण ये अनात्मा हैं] उसी प्रकार देह भी अनात्मस्वरूप है ॥४५॥

ममाहं चेत्यतोऽविद्या शरीरादिष्वनात्मसु।
आत्मज्ञानेन हेया स्यादसुराणामिति श्रुतेः ॥ ४६ ॥

अतः शरीरादि अनात्माओं में जो ममता और अहंता है उसी का नाम अविद्या है; इसका आत्मज्ञान के द्वारा नाश करना चाहिये। इस विषय में 'इस प्रकार का ज्ञान असुरों की उपनिषद् है' यह श्रुति प्रमाण है ॥ ४६ ॥

दशाहाशौचकार्याणां पारिव्राज्ये निवर्तनम्।
यथा ज्ञानस्य सम्प्राप्तौ तद्वज्जात्यादिकर्मणाम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार संन्यास ग्रहण कर लेने पर [उसकी मृत्यु के पश्चात्] ... दिन के अशौचादि का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता उसी प्रकार ज्ञान ... हो जाने पर जाति आदि से सम्बन्धित कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती ...

यत्कामस्तत्क्रतुर्भूत्वा कृतं त्वज्ञः प्रपद्यते ।
यदा स्वात्मदृशः कामाः प्रमुच्यन्तेऽमृतस्तदा ॥ ४८ ॥

अज्ञानी पुरुष जैसी कामना करता है वैसे ही संकल्पवाला होकर ... फल प्राप्त करता है। जिस समय आत्मवेत्ता की सम्पूर्ण कामनाएँ नि... जाती हैं उस समय वह अमर (संसार बन्धन से मुक्त) हो जाता है ॥ ४८ ॥

आत्मरूपविधेः कार्यं क्रियादिभ्यो निवर्तनम् ।
न साध्यं साधनं वात्मा नित्यतृप्तः स्मृतेर्मतः ॥ ४९ ॥

कर्मादि से निवृत्त हो जाना—यही आत्मस्वरूप-प्रतिपादन का फ... आत्मा न तो साध्य है और न साधन। वह नित्यतृप्त है–ऐसा स्मृ... मत है ॥ ४९ ॥

उत्पाद्याप्यविकार्याणि संस्कार्यं च क्रियाफलम् ।
नातोऽन्यत्कर्मणा कार्यं त्यजेत्तस्मात्ससाधनम् ॥ ५० ॥

कर्म का फल उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य चार प्रकार का है[1]। अतः मुमुक्षु को कर्म से कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिये उसे साधन... कर्म का त्याग कर देना चाहिये ॥ ५० ॥

तापान्तत्वादनित्यत्वादात्मार्थत्वाच्च या बहिः ।
संहृत्यात्मनि तां प्रीतिं सत्यार्थी गुरुमाश्रयेत् ॥ ५१ ॥

१ 'देवदत्त वस्त्र बनाता है' यहाँ 'बनाना' क्रिया का कर्मरूप 'वस्त्र' ... है; 'चावलों का भात बनाता है' इसमें 'बनाना' क्रिया का कर्मरूप 'भात' ... है; 'यज्ञदत्त गाँव को जाता है' यहाँ 'जाना' क्रिया का कर्म 'गाँव' आप्य है; 'देवदत्त दर्पण साफ करता है' यहाँ 'साफ करना' क्रिया कर्मरूप 'दर्पण' ... है। किन्तु आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है, अतः वह किसी क्रिया का ... नहीं हो सकता।

बाहर पुत्र-कलत्रादि विषयों में जो प्रीति है वह परिणाम में दुःखरूपा, अनित्य और आत्मार्थ है, उसका आत्मा में उपसंहार कर सत्यकामी पुरुष गुरु का आश्रय ले ॥ ५१ ॥

शान्तं प्राज्ञं तथा मुक्तं निष्क्रियं ब्रह्मणि स्थितम् ।
श्रुतेराचार्यवान्वेद तद्विद्धीति स्मृतेस्तथा ॥ ५२ ॥

'आचार्यवान् पुरुष को ही ज्ञान होता है' इस श्रुति तथा 'उसे प्रणाम के द्वारा जानो' इस स्मृति के अनुसार जिज्ञासु को शान्त, मेधावी, मुक्त, निष्क्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय लेना चाहिये ॥ ५२ ॥

स गुरुस्तारयेद्युक्तं शिष्यं शिष्यगुणान्वितम् ।
ब्रह्मविद्याप्लवेनाशु स्वान्तध्वान्तमहोदधिम् ॥ ५३ ॥

वह गुरु शिष्य के गुणों से युक्त उस समाहितचित्त शिष्य को ब्रह्मविद्यारूप नौका के द्वारा अपने अन्तःकरण के अज्ञानरूप समुद्र से पार करे ॥५३॥

दृष्टिः स्पृष्टिः श्रुतिर्घ्रातिर्मतिर्विज्ञातिरेव च ।
शक्तयोऽन्याश्च भिद्यन्ते चिद्रूपत्वेऽप्युपाधिभिः ॥ ५४ ॥

दर्शन, स्पर्श, श्रवण, घ्राण, मनन, विज्ञान तथा अन्यान्य शक्तियाँ यद्यपि [समानरूप से] चिद्रूपा हैं, तथापि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण उनमें भेद है ॥ ५४ ॥

अपायोद्भूतिहीनाभिर्नित्यं दीप्यन्नविर्यथा ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्धः सर्वं जानाति सर्वदा ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी जन्म-विनाशशून्य किरणों के द्वारा सर्वदा प्रकाश करते हुए स्थित रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञ सर्वसाक्षी शुद्धस्वरूप आत्मा अपनी स्वरूपभूता चिच्छक्ति के द्वारा समस्त पदार्थों को जानता है ॥५५॥

अन्यदृष्टिः शरीरस्थस्तावन्मात्रो ह्यविद्यया ।
जलेन्द्वाद्युपमाभिस्तु तद्धर्मा च विभाव्यते ॥ ५६ ॥

शरीरस्थ आत्मा अनात्मदृष्टिसम्पन्न होने के कारण जल में प्रतिबिम्बित

चन्द्रादि के समान[1] अविद्यावश शरीरपरिमाणमात्र तथा शारीरिक धर्मों से युक्त जान पड़ता है ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वा बाह्यं निमील्याथ स्मृत्वा तत्प्रविहाय च ।
अथोन्मील्यात्मनो दृष्टिं ब्रह्म प्राप्नोत्यनध्वगः ॥ ५७ ॥

पुरुष [जाग्रत्कालीन] बाह्य पदार्थों को देखकर उनकी ओर से दृष्टि हटा उन्हें [स्वप्नावस्था में वासनामय पदार्थरूप से] स्मरण करता हुआ फिर उस (वासनामय शरीर) का भी त्याग कर [सुषुप्ति अवस्था की बीजभूत अज्ञान दृष्टि का भी बाधकर] उसके पश्चात् आत्मा की ज्ञानप्रकाशरूपा आत्मदृष्टि खोलकर अर्चिरादि मार्ग से न जाते हुए ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

प्राणाद्येवं त्रिकं हित्वा तीर्णोऽज्ञानमहोदधिम् ।
स्वात्मस्थो निर्गुणः शुद्धो बुद्धो मुक्तः स्वतो हि सः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार प्राणादि तीनों को (प्राण मन और बुद्धि रूप तीनों अन्तःकरणों अथवा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाओं को) त्यागकर अज्ञान महासागर से पार हुआ पुरुष स्वयं आत्मनिष्ठ, निर्गुण एवं शुद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

अजोऽहं चामरोऽमृत्युरजरोऽभय एव च ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्ध इति बुद्धो न जायते ॥ ५९ ॥

मैं अजन्मा, अमर, मृत्युशून्य, जरारहित और अभय हूँ तथा मैं सर्वज्ञ सर्वसाक्षी और शुद्ध हूँ—ऐसा जानकर पुरुष फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ ५९ ॥

पूर्वोक्तं यत्तमोबीजं तन्नास्तीति विनिश्चयः ।
तदभावे कुतो जन्म ब्रह्मैकत्वं विजानतः ॥ ६० ॥

विद्वान् का यह निश्चय होता है कि पूर्वोक्त जो सुषुप्तिरूप अज्ञान है

---

१ अर्थात् जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल की चञ्चलता के कारण चञ्चल प्रतीत होता है उसी प्रकार देह में आत्मत्व का अध्यास होने के कारण आत्मा देह के धर्मों से युक्त और देहपरिमाणमात्र जान पड़ता है।

ही नहीं। इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म का एकत्व जानने वाले उस पुरुष की दृष्टि में अज्ञान का अभाव होने के कारण पुनर्जन्म कैसे हो सकता है ? ॥६०॥

क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्नपूर्ववत् ।
बुद्ध्यादेर्ज्ञस्तथाऽसत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत् ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार दूध से निकाला हुआ घृत दूध में पुनः मिलाये जाने पर पूर्ववत् नहीं मिल सकता उसी प्रकार असत्य बुद्धि आदि से पृथक् किया हुआ देही आत्मा पूर्ववत् अविवेकयुक्त नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च रसादेः पञ्चकात्परम् ।
स्यामदृश्यादिशास्त्रोक्तमहं ब्रह्मेति निर्भयः ॥ ६२ ॥

मैं अदृश्यादि[1] शास्त्रद्वारा प्रतिपादित, अन्नमयादि पाँचों कोशों से अतीत सत्यज्ञान एवं अनन्तरूप परब्रह्म हूँ—ऐसा जानकर पुरुष निर्भय हो जाता है ॥६२॥

यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते वाङ्मनःपावकादयः ।
तदात्मानन्दतत्त्वज्ञो न बिभेति कुतश्चन ॥ ६३ ॥

जिससे भयभीत होकर वाणी मन एवं अग्नि आदि अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं उस आत्मानन्द के रहस्य को जाननेवाला पुरुष कहीं भी भयभीत नहीं होता ॥ ६३ ॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ ६४ ॥

यदि वह आत्मज्ञानी नामादि से अतीत, व्यापक, अद्वितीय स्वाराज्य में स्थित है तो किसे प्रणाम करेगा ? उस समय तो कर्म से उसे कोई प्रयोजन ही नहीं रहता ॥ ६४ ॥

विराड्वैश्वानरो बाह्यः स्मरन्नन्तः प्रजापतिः ।
प्रविलीने तु सर्वस्मिन्प्राज्ञोऽव्याकृतमुच्यते ॥ ६५ ॥

वह आत्मतत्त्व ही [जाग्रदवस्था में] बहिष्प्रज्ञ होनेपर [व्यष्टि-समष्टि भेद

---

१ 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते'

से] विराट् और वैश्वानर, [स्वप्नावस्था में] अन्तःकरण में स्मरण... तैजस और हिरण्यगर्भ तथा [सुषुप्तावस्था में] सबके लीन हो जाने पर... और अव्याकृत कहा जाता है ॥ ६५ ॥

वाचारम्भणमात्रत्वात्सुषुप्तादित्रिकं त्वसत् ।
सत्यो ज्ञश्चाहमित्येवं सत्यसन्धो विमुच्यते ॥ ६६ ॥

किन्तु वाणी से आरम्भ होनेवाली होने के कारण सुषुप्तादि तीनों अव... तो मिथ्या हैं; मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सत्य हूँ—ऐसा जाननेवाला ... पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ६६ ॥

भारूपत्वाद्यथा भानोर्नाहोरात्रे तथैव च ।
ज्ञानाज्ञाने न मे स्यातां चिद्रूपत्वाविशेषतः ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप होने के कारण सूर्य में दिन रात नहीं होते... प्रकार चिद्रूपत्व में समानता होने के कारण मुझ में ज्ञान-अज्ञान नहीं हैं ॥...

शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वाद् ब्रह्मैव स्यामहं सदा ।
ब्रह्मणो मे न हेयं स्याद्ग्राह्यं वेति च संस्मरेत् ॥ ६८ ॥

शास्त्र की प्रामाणिकता किसी प्रकार शंकनीय न होने के कारण मैं ... ब्रह्म ही हूँ । ब्रह्मस्वरूप मेरे लिये न कुछ हेय है और न उपादेय—ऐसा सदा ... रखना चाहिये ॥ ६८ ॥

अहमेव च भूतेषु सर्वेष्वेको नभो यथा ।
मयि सर्वाणि भूतानि पश्यन्नेवं न जायते ॥ ६९ ॥

आकाश के समान मैं अकेला ही समस्त भूतों में विद्यमान हूँ तथा ... भूत मेरे में स्थित हैं ऐसी दृष्टि हो जाने पर पुरुष जन्मग्रहण नहीं करता ॥...

न बाह्यं मध्यतो वान्तर्विद्यतेऽन्यत्स्वतः क्वचित् ।
अबाह्यान्तःश्रुतेः किंचित्तस्माच्छुद्धः स्वयंप्रभः ॥ ७० ॥

'आत्मा बाहर-भीतर से रहित है' ऐसी श्रुति[1] होने के कारण आत्मा ...

1 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' ।

उसके बाहर भीतर या मध्य में कोई और वस्तु नहीं है। अतः वह शुद्ध और स्वयंप्रकाश है ॥ ७० ॥

नेतिनेत्यादिशास्त्रेभ्यः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः।
अविज्ञातादिशास्त्राच्च नैव ज्ञेयो ह्यतोऽन्यथा ॥ ७१ ॥

"आत्मा स्थूल शरीर नहीं है, सूक्ष्म शरीर नहीं है" इत्यादि[1] शास्त्र से तथा "वह स्वयं ज्ञात हुए विना ही दूसरों का ज्ञाता है" इस श्रुति[2] से आत्मा प्रपञ्च-शून्य एवं अद्वितीय है; वह इससे भिन्न प्रकार से ज्ञातव्य नहीं है ॥ ७१ ॥

सर्वस्यात्माहमेवेति ब्रह्म चेद्विदितं परम्।
स आत्मा सर्वभूतानामात्मा ह्येषामिति श्रुतेः ॥ ७२ ॥

'मैं ही सबका आत्मा हूँ' इस प्रकार यदि परब्रह्म का ज्ञान हो गया तो "क्योंकि यह इनका आत्मा है" ऐसी श्रुति[3] होने के कारण वह समस्त प्राणियों का आत्मा हो जाता है ॥ ७२ ॥

जीवश्चेत्परमात्मानं स्वात्मानं देवमञ्जसा।
देवोपास्यः स देवानां पशुत्वाच्च निवर्तते ॥ ७३ ॥

यदि जीव अपने आत्मस्वरूप परमात्मदेव को साक्षात् जान लेता है तो वह देवताओं का उपास्यदेव हो जाता है और देवताओं के पशुत्व से निवृत्त हो जाता है ॥ ७३ ॥

अहमेव सदात्मज्ञः शून्यस्त्वन्यैर्यथाम्बरम्।
इत्येवं सत्यसंधत्वादसद्धाता न बध्यते ॥ ७४ ॥

मैं ही सत्स्वरूप चेतन आत्मा हूँ तथा आकाश के समान अन्य पदार्थों से

---

१ जैसे 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' आदि।

२ 'अविज्ञातं विज्ञातृ।'

३ [तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते] 'आत्मा ह्येषां संभवति'।

रहित हूँ—इस प्रकार सत्यसन्ध होने के कारण असत्य का त्याग करने
पुरुष [चौर के समान] वध नहीं किया जाता[1] ॥७४॥

कृपणास्तेऽन्यथैवातो विदुर्ब्रह्म परं हि ये।
स्वराड्योऽनन्यदृक् स्वस्थस्तस्य देवा असन्वशे ॥ ७५॥

जो ब्रह्म को इस आत्मा से भिन्न जानते हैं वे दीन हैं। किन्तु जो पुरुष
अभेद देखता है वह स्वयंप्रकाश और आत्मनिष्ठ होता है, समस्त देव
उसके अधीन रहते हैं ॥ ७५ ॥

हित्वा जात्यादिसंबन्धान्वाचोऽन्याः सह कर्मभिः।
ओमित्येवं सदात्मानं सर्वं शुद्धं प्रपद्यथ ॥ ७६ ॥

जाति आदि सम्बन्ध तथा कर्मों के सहित अन्य समस्त वाक्यों का
कर सर्वदा सबके आधारभूत ॐ शब्दवाच्य शुद्ध आत्मा की शरण लो ॥

सेतुं सर्वव्यवस्थानामहोरात्रादिवर्जितम्।
तिर्यगूर्ध्वमधः सर्वं सकृज्ज्योतिरनामयम् ॥ ७७ ॥

वह [वर्णाश्रमादि] समस्त मर्यादाओं का सेतु, रात्रि-दिवसादि से
ऊपर-नीचे इधर-उधर सब ओर विद्यमान, एकमात्र ज्योतिःस्वरूप और
(निर्दोष) है ॥ ७७ ॥

धर्माधर्मविनिर्मुक्तं भूतभव्यात्कृताकृतात्।
स्वमात्मानं परं विद्याद्विमुक्तं सर्वबन्धनैः ॥ ७८ ॥

उस अपने आत्मा को धर्माधर्म से रहित, भूत-भविष्यत् एवं कार्य-का
भिन्न तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

१ छान्दोग्योपनिषद् (६।६।१६) में यह बतलाया है कि जब
किसी पुरुषपर चोरी का सन्देह करते हैं तो उसके हाथ में तपा हुआ
हैं। उस समय यदि उसने चोरी नहीं की होती तो वह उससे नहीं
यदि की होती है तो जल जाता है और राजपुरुषों द्वारा मार डाला
इसी प्रकार जो सत्स्वरूप आत्मा में आत्मबुद्धि करने वाला है वह संसार
से मुक्त हो जाता है।

अकुर्वन्सर्वकृच्छुद्धस्तिष्ठन्नत्येति धावतः ।
मायया सर्वशक्तित्वादजः सन्बहुधा मतः ॥ ७९ ॥

वह कुछ भी न करते हुए सब कुछ करने वाला है, शुद्ध है, स्थित रहते हुए भी दौड़ने वाले मन आदि से आगे निकल जाता है तथा माया के द्वारा सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण वह अजन्मा होते हुए भी अनेक प्रकार से माना जाता है ॥ ७९ ॥

राजवत्साक्षिमात्रत्वात्सांनिध्याद् भ्रामको यथा ।
भ्रामयञ्जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः ॥ ८० ॥

जिस प्रकार चुम्बक अपनी सन्निधिमात्र से [लोहखण्ड का] भ्रामक होता उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को भ्रमाता हुआ भी मैं आत्मा राजा के समान साक्षीमात्र होने के कारण निष्क्रिय, अकर्ता और अद्वितीय हूँ ॥८०॥

निर्गुणं निष्क्रियं नित्यं निर्द्वन्द्वं यन्निरामयम् ।
शुद्धं बुद्धं तथा मुक्तं तद्ब्रह्मास्मीति धारयेत् ॥ ८१ ॥

जो निर्गुण, निष्क्रिय, निर्द्वन्द्व, निरामय एवं शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप ब्रह्म है मैं हूँ—ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ८१ ॥

बन्धं मोक्षं च सर्वं यत इदमुभयं हेयमेकं द्वयं च
ज्ञेयं ज्ञेयाभ्यतीतं परममधिगतं तत्त्वमेकं विशुद्धम् ।
विज्ञायैतद्यथावच्छ्रुतिमुनिगदितं शोकमोहावतीतः
सर्वज्ञः सर्वकृत्स्याद्भवभयरहितो ब्राह्मणोऽवाप्तकृत्यः ॥८२॥

बन्ध-मोक्ष तथा जिनसे ये दोनों होते हैं [वे अज्ञान और ज्ञान] एवं एक (कारण) और अनेक (कार्य) रूप विषय—इन सबको हेय जानकर, तथा श्रुति और मुनिजन द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण ज्ञेयवर्ग से अतीत एक विशुद्ध तत्त्व माना गया है उसे सम्यक् प्रकार से अनुभव कर ब्रह्मवेत्ता शोक-मोह से रहित, सर्वज्ञ, सर्वकर्मा, संसारभय से रहित और कृतकृत्य हो जाता है ॥८२॥

न स्वयं स्वस्य नान्यश्च नान्यस्यात्मा च हेयगः ।
उपादेयो न चाप्येवमिति सम्यङ्मतिः स्मृता ॥ ८३ ॥

स्वयं आत्मा अपना हेय या उपादेय नहीं है, और इसी प्रकार अन्य (परमात्मा) भी अपना हेय या उपादेय नहीं है ।[1] इस प्रकार की निश्च सम्यग्ज्ञान मानी गयी है ॥ ८३ ॥

आत्मप्रत्यायिका ह्येषा सर्ववेदान्तगोचरा ।
ज्ञात्वैतां हि विमुच्यन्ते सर्वसंसारबन्धनैः ॥ ८४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों द्वारा प्रतिपादित यह सम्यग्ज्ञान आत्मा अनुभव कराने वाला है । इसलिये इसे जानकर पुरुष सब प्रकार के सांसा बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

रहस्यं सर्ववेदानां देवानां चापि यत्परम् ।
पवित्रं परमं ह्येतत्तदेतत्संप्रकाशितम् ॥ ८५ ॥

जो सम्पूर्ण वेदों का गूढ रहस्य और देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय है यह परम पवित्र तत्त्वज्ञान सम्यक् प्रकार से प्रकाशित किया गया ॥८५॥

नैतद्देयमशान्ताय रहस्यं ज्ञानमुत्तमम् ।
विरक्ताय प्रदातव्यं शिष्यायानुगताय च ॥ ८६ ॥

यह श्रुतिरहस्यभूत उत्तम ज्ञान अशान्तचित्त पुरुष को नहीं देना चा बल्कि जो विरक्त और अपना अनुगत शिष्य हो उसी को देना चाहिये ॥८६॥

ददतश्चात्मनो ज्ञानं निष्क्रियोऽन्यो न विद्यते ।
ज्ञानमिच्छंस्तरेत्तस्माद्युक्तः शिष्यगुणैः सदा ॥ ८७ ॥

क्योंकि [संसार में] आत्मज्ञान प्रदान करने वाले गुरु से उऋण होने कोई अन्य उपाय नहीं है; इसलिये ज्ञान की इच्छा करनेवाले पुरुष को शिष्य के गुणों से युक्त होकर संसार से पार हो जाना चाहिये ॥ ८७ ॥

---

१ क्योंकि एक ही वस्तु में त्यक्तृ-त्याज्य अथवा ग्राहक-ग्राह्यरूप कर्तृ-कर्म नहीं हो सकता ।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता यस्मादन्यो न विद्यते।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्यस्तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ८८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये जिससे भिन्न नहीं हैं तथा जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है उस ज्ञानस्वरूप परब्रह्म को नमस्कार है ॥ ८८ ॥

विद्यया तारिताः स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम् ।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसंकुलम् ॥ ८९ ॥

जिन्होंने ज्ञानके द्वारा हमारा अज्ञानपूर्ण जन्ममृत्यु-रूप महासागर से उद्धार किया है उन सर्वज्ञ गुरुदेव को हमारा नमस्कार है ॥ ८९ ॥

तत्त्वमसिप्रकरण ॥ १८ ॥

येनात्मना विलीयन्ते उद्भवन्ति च वृत्तयः ।
नित्यावगतये तस्मै नमो धीप्रत्ययात्मने ॥ १ ॥

(वन्दना)

जिस आत्मस्वरूप से अन्तःकरण की वृत्तियाँ उठती और लीन होती हैं उस बुद्धिवृत्तियों के अधिष्ठान नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा को नमस्कार है ॥ १ ॥

प्रमथ्य वज्रोपमयुक्तिसंभृतैः श्रुतेररातीञ्शतशो वचोसिभिः ।
ररक्ष वेदार्थनिधिं विशालधीर्नमो यतीन्द्राय गुरोर्गरीयसे ॥२॥

जिन महामति ने वज्रतुल्य अकाट्य युक्तियों और खड्गरूप सैकड़ों वेदान्त-वाक्यों द्वारा श्रुति के शत्रुओं का संहार कर वेदार्थरूपी कोष (खजाने) की रक्षा की उन यतिशिरोमणि परमगुरुदेव (श्रीगौडपादाचार्य) को नमस्कार है ॥२॥

नित्यमुक्तः सदेवास्मीत्येवं चेन्न भवेन्मतिः ।
किमर्थं श्रावयत्येव मातृवच्छ्रुतिरादरात् ॥ ३ ॥

यदि [वेदान्तवाक्य से] 'मैं नित्यमुक्त सत् ही हूँ' ऐसा [अपरोक्ष]

ज्ञान नहीं होता, तो माता के समान हितैषिणी श्रुति आदरपूर्वक श्रवण हीं क्यों कराती है ? ॥ ३ ॥

सिद्धादेवाहमित्यस्माद्युष्मद्धर्मो निषिध्यते ।
रज्ज्वामिवाहिधीर्युक्त्या तत्त्वमित्यादिशासनैः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार रज्जु में सर्पबुद्धि निवृत्त होती है उसी प्रकार युक्तिपूर्वक 'तू वह (ब्रह्म) है' इत्यादि उपदेशों के द्वारा अहंपदलक्ष्य आत्मा से [अहंकारादि] अनात्मधर्मों का निषेध किया जाता है ॥ ४ ॥

शास्त्रप्रामाण्यतो ज्ञेया धर्मादेरस्तिता तथा ।
विषापोहो तथा ध्यानाद् ध्रुतिः स्यात्पाप्मनस्तथा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार शास्त्रप्रमाण से धर्मादि के अस्तित्वका ज्ञान होता है तथा [गारुडादि मन्त्रबीज के] ध्यान से विष की निवृत्ति होती है उसी प्रकार [वेदान्तवाक्यजनित तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञानरूप] पाप का नाश होता है ॥ ५ ॥

सद्ब्रह्माहं करोमीति प्रत्ययावात्मसाक्षिकौ ।
तयोरज्ञानजस्यैव त्यागो युक्ततरो मतः ॥ ६ ॥

'मैं सत्स्वरूप ब्रह्म हूँ' और 'मैं करता हूँ' ये दोनों ही ज्ञान आत्मा के साक्षित्व में होते हैं । इनमें से ['मैं करता हूँ' ऐसा] जो अज्ञानजनित प्रत्यय है उसी का त्याग अधिक युक्तियुक्त माना जाता है ॥ ६ ॥

सदस्मीति प्रमाणोत्था धीरन्या तन्निभोद्भवा ।
प्रत्यक्षादिनिभा वापि बाध्यते दिग्भ्रमादिवत् ॥ ७ ॥

'मैं सत्स्वरूप हूँ' यह ज्ञान प्रमाणजनित है तथा इससे भिन्न ['मैं करता हूँ' यह] ज्ञान प्रमाणाभासजनित है । अतः प्रत्यक्षादिवत् होनेपर भी वह दिग्भ्रमादि के समान बाधित हो जाता है[1] ॥ ७ ॥

---

१ जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला विभ्रम आप्तवाक्य से निवृत्त हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि 'मैं करता हूँ' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षवत् सत्य प्रतीत होता है; तथापि श्रुतिप्रमाणजनित आत्मज्ञान से इसका बाध हो जाता है ।

कुरु भोक्तेति यच्छास्त्रं लोकबुद्ध्यनुवादि तत् ।
सदस्मीति श्रुतेर्जाता बाध्यतेऽन्यैतयैव धीः ॥ ८ ॥

'[धर्मानुष्ठान] करो'[1] '[आत्मा] भोक्ता[2] है' ऐसा जो शास्त्र है वह लोकबुद्धि का अनुवाद करनेवाला है। अतः 'मैं सत् हूँ' इस श्रुति से उत्पन्न हुई बुद्धि के द्वारा यह बुद्धि बाधित हो जाती है ॥ ८ ॥

सदेव त्वमसीत्युक्ते नात्मनो मुक्तता स्थिरा ।
प्रवर्तते प्रसंचक्षामतो युक्त्याऽनुचिन्तयेत् ॥ ९ ॥

पूर्व०—'तू सत् ही है' ऐसा कहने पर आत्मा की मुक्ति निश्चित नहीं होती। इससे तो प्रसंख्यान (वाक्यानुचिन्तन) की प्रवृत्ति होती है, अतः उसका युक्तिपूर्वक निरन्तर चिन्तन (विचार) करना चाहिये ॥ ९ ॥

सकृदुक्तं न गृह्णाति वाक्यार्थज्ञो न यो भवेत् ।
अपेक्षते त एवान्यदवोचाम द्वयं हि तत् ॥ १० ॥

जो पुरुष महावाक्य के अर्थ का ज्ञाता नहीं होता वह एक बार कहने पर ही उसे ग्रहण नहीं कर सकता। उसे अन्य सहकारी साधनों की अपेक्षा होती है; इसीसे हमने पूर्वश्लोक में [वाक्यानुचिन्तन और युक्तिपूर्वक विचार—ये] दो साधन बतलाये हैं ॥ १० ॥

नियोगोऽप्रतिपन्नत्वात्कर्मणां स यथा भवेत् ।
अविरुद्धो भवेत्तावद्यावत्संवेद्यताऽदृढा ॥ ११ ॥

जब तक अदृढ ज्ञान रहता है तब तक स्वरूपोपलब्धि न होने के कारण उसके लिये कर्मों का विधान भी विरुद्ध नहीं होता [अर्थात् आत्मसाक्षात्कार से पूर्व उस पर कर्मविधि भी लागू है ही] ॥ ११ ॥

चेष्टितं च तथा मिथ्या स्वच्छन्दः प्रतिपद्यते ।
प्रसंख्यानमतः कार्यं यावदात्मानुभूयते ॥ १२ ॥

---

[1] 'धर्मं चर', 'सत्यं वद' इत्यादि ।

[2] 'स हि कर्ता भोक्तेत्यहमंनंीप्रिय:' इत्यादि ।

यदि स्वेच्छाचारी पुरुष भी ब्रह्मात्मैक्य को प्राप्त कर सकता है तो अनुष्ठान किए हुए यम-नियमादि साधन व्यर्थ ही होंगे। अतः जब तक आत्मा का अनुभव न हो तब तक प्रसंख्यान का अभ्यास करना चाहिए ॥ १२ ॥

सदस्मीति च विज्ञानमक्षजो बाधते ध्रुवम् ।
शब्दोत्थं दृढसंस्कारो दोषैश्चाकृष्यते बहिः ॥ १३ ॥

इसके सिवा 'मैं सत्स्वरूप हूँ' इस शब्दजनित ज्ञान को इन्द्रिय जनित दृढ संस्कार निश्चय ही दबा भी देता है और रागादि दोष मुमुक्षु पुरुष को बहिर्मुख कर देते हैं [इसलिए भी प्रसंख्यान का अभ्यास करना चाहिये] ॥ १३ ॥

श्रुतानुमानजन्मानौ सामान्यविषयौ यतः ।
प्रत्ययावक्षजोऽवश्यं विशेषार्थो निवारयेत् ॥ १४ ॥

क्योंकि शब्द और अनुमानजनित ज्ञान सामान्यविषय-विषयक होते हैं; अतः विशेषविषयक प्रत्यक्ष उनको अवश्य बाधित कर देगा[1] ॥ १४ ॥

वाक्यार्थप्रत्ययी कश्चिन्निर्दुःखो नोपलभ्यते ।
यदि वा दृश्यते कश्चिद्वाक्यार्थश्रुतिमात्रतः ॥ १५ ॥
निर्दुःखोऽतीतदेहेषु कृतभावोऽनुमीयते ।
चर्या नोऽशास्त्रसंवेद्या स्यादनिष्टं तथा सति ॥ १६ ॥

तथा केवल वाक्यार्थ का ज्ञान रखने वाला कोई पुरुष दुःखहीन भी दिखाई नहीं देता। और यदि कोई वाक्यार्थश्रवणमात्र से ही दुःखहीन दिखाई देता है तो उसने पूर्व जन्मों में प्रसंख्यान का अभ्यास किया होगा—ऐसा अनुमान

१ 'अग्नि' शब्द सुनकर अथवा धूम देखकर जो अग्नि ज्ञान होता है वह सामान्य ज्ञान है, किन्तु अग्नि के साथ नेत्र का संनिकर्ष होने पर जो अग्नि का प्रत्यक्ष होता है वह विशेष ज्ञान है। विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान की अपेक्षा प्रबल होता है, अतः 'मैं देह हूँ' यह प्रत्यक्ष ज्ञान 'मैं सत्स्वरूप हूँ' इस शब्द जनित ज्ञान का बाधक हो सकता है।

होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो हमारा संन्यासधर्माचरण शास्त्रविहित नहीं रहता और ऐसा होने पर बड़ा अनिष्ट होता है ॥ १५-१६ ॥

सदसीति फलं चोक्त्वा विधेयं साधनं यतः ।
न तदन्यत्प्रसंख्यानात्प्रसिद्धार्थमिहेष्यते ॥ १७ ॥

[अतः] क्योंकि 'तू सत्स्वरूप है' इस प्रकार फल बतलाकर उसके साधन का विधान करना है [इसीलिये पहले वेदान्तवाक्य का उपदेश किया जाता है]। तथा वेदान्तप्रसिद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए यहाँ प्रसंख्यान से भिन्न कोई और साधन उपयुक्त नहीं है[1] ॥ १७ ॥

तस्मादनुभवायैव प्रसंचक्षीत यत्नतः ।
त्यजन्साधनतत्साध्यविरुद्धं शममादिमान् ॥ १८ ॥

अतः शम-दमादिसम्पन्न पुरुष को [प्रसंख्यानरूप] साधन और उससे साध्य ब्रह्मात्मैक्य के विरोधी कर्मनिष्ठत्व का त्याग कर आत्मानुभव के लिए प्रयत्नपूर्वक प्रसंख्यान का ही अभ्यास करना चाहिये ॥ १८ ॥

नैतदेवं रहस्यानां नेतिनेत्यवसानतः ।
क्रियासाध्यं पुरा श्राव्यं न मोक्षो नित्यसिद्धतः ॥ १९ ॥

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य का पर्यवसान दृश्य के निषेध पूर्वक उस (निषेध) के अवधिभूत परब्रह्म में होता है। [अतः उनका तात्पर्य प्रसंख्यानरूप विधि में नहीं हो सकता]। जो क्रियासाध्य फल है वह तो पूर्वकाण्ड में सुनने योग्य है [उपनिषदों में उसका उल्लेख नहीं है] । मोक्ष नित्यसिद्ध है, इसलिए वह क्रियासाध्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

---

१ उपदेश का यह क्रम होता है कि पहले फल बतलाकर पीछे साधन बतलाया जाता है। अतः वेदान्तसम्प्रदाय में जो महावाक्योपदेश का क्रम है वह फलनिर्देश के लिये है। उसके पश्चात् प्रसंख्यानरूप साधन अवश्य कर्तव्य है। प्रसंख्यान से भिन्न अग्निहोत्रादि कर्म इसके उपयुक्त नहीं हैं। वे तो केवल चित्तशुद्धि के ही साधन हैं।

पुत्रदुःखं यथाध्यस्तं पित्राऽदुःखे स्व आत्मनि ।
अहंकर्ता तथाध्यस्तं नित्याऽदुःखे स्व आत्मनि ॥ २० ॥

जिस प्रकार पिता अपने दुःखशून्य आत्मा में पुत्र के दुःख का आरोप कर लेता है उसी प्रकार [मनुष्य ने] अपने दुःखरहित आत्मा में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अध्यास कर लिया है ॥ २० ॥

सोऽध्यासो नेतिनेतीति प्राप्तवत्प्रतिपिध्यते ।
भूयोऽध्यासविधिः कश्चित्कुतश्चिन्नोपपद्यते ॥ २१ ॥

उस अध्यास का प्राप्त हुई वस्तु के समान 'यह (स्थूल देह) आत्मा नहीं है, यह (सूक्ष्म देह) आत्मा नहीं है' इस क्रम से निषेध किया जाता है। ऐसी अवस्था में पुनः किसी प्रकार के अध्यास के लिये विधि करना तो किसी तरह उपपन्न नहीं है ॥ २१ ॥

आत्मनीह यथाऽध्यासः प्रतिषेधस्तथैव च ।
मलाध्यासनिषेधौ खे क्रियेते च यथाऽबुधैः ॥ २२ ॥

[यदि कहो कि अध्यास तो प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली शुक्ति-रज्जु आदि वस्तुओं में होता है, अविषयभूत प्रत्यगात्मा ब्रह्म में विषय के धर्म दुःखत्वादि का किस प्रकार अध्यास हो सकता है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार [देहातिरिक्त आत्मवादी नैयायिकों के मत में] आत्मा में [देह और उसके धर्म जरामरणादिका] अध्यास और प्रतिषेध होता है तथा जिस प्रकार अज्ञजन इन्द्रियों के अविषयभूत आकाश में मलिनता का आरोप एवं निषेध करते हैं [उसी प्रकार अविषयभूत प्रत्यगात्मा ब्रह्म में भी संसार का अध्यास और निषेध हो सकता है][1] ॥ २२ ॥

प्राप्तश्चेत्प्रतिपिध्येत मोक्षोऽनित्यो भवेद् ध्रुवम् ।
अतोऽप्राप्तनिषेधोऽयं दिक्ष्वग्निचयनादिवत् ॥ २३ ॥

१ यहाँ मूल में जहाँ 'आत्मनीह तथाध्यासः' ऐसा पाठ मिले वहाँ पूर्वार्ध का दार्ष्टान्त और उत्तरार्ध का दृष्टान्तपरक अर्थ करना चाहिये ।

यदि आत्मा में प्राप्त हुए बन्ध का प्रतिषेध माना जाय तो उसका मोक्ष अवश्य अनित्य सिद्ध होगा। अतः आकाश में अग्निचयनादि के प्रतिषेध के समान यह अप्राप्त बन्ध का प्रतिषेध है[1] ॥ २३ ॥

संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो वा न चान्यथा।
न संभाव्यौ तदात्मत्वादहंकर्तुस्तथैव च ॥ २४ ॥

शब्दज्ञान तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान विषय में ही हो सकते हैं, अन्यथा [अर्थात् अविषय में] नहीं हो सकते। अतः ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अहंकर्ता (प्रमाता) को [ब्रह्मविषयक] शब्द अथवा प्रत्यक्षादि अन्य ज्ञान होने सम्भव नहीं हैं[2] ॥ २४ ॥

---

१ यदि प्राप्त बन्ध का प्रतिषेध किया जायगा तो सादि होने के कारण मोक्ष की अनित्यता का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रतिषेध प्राप्त वस्तु का ही किया जाता हो। 'नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्यः' (अन्तरिक्ष और आकाश में अग्निचयन न करे) इस श्रुति में अन्तरिक्ष या आकाश में अप्राप्त अग्निचयन का ही प्रतिषेध किया जाता है। इसी प्रकार आकाश में नीलिमा, रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत भी अप्राप्त ही हैं। अतः आत्मा में भी अप्राप्त बन्ध की ही निवृत्ति की जाती है। इससे आत्मा की नित्य-मुक्तस्वरूपता सिद्ध होती है।

२ तात्पर्य यह है कि शब्दजन्य ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष अनुमान उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धिजनित ज्ञान किसी विषय के ही आश्रय से हो सकते हैं, विषयहीन नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म किसी का विषय नहीं है। शब्द की प्रवृत्ति के हेतुभूत जाति गुण एवं क्रियादि का अभाव होने के कारण उसमें शब्द की प्रवृत्ति नहीं है, रूपादिहीन होने के कारण वह बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, कोई अनुमापक लिंगविशेष न होने से उसका अनुमान नहीं किया जा सकता, निरवयव होने के कारण वह उपमान का विषय नहीं है, अविकारी होने से उसके विषय में अर्थापत्ति नहीं हो सकती तथा भावरूप होने के कारण वह अनुपलब्धि का विषय नहीं है। इसके सिवा प्रमाता जो अहंकर्ता है, वह भी ब्रह्म में ही अध्यस्त है। अतः अपने अधिष्ठान ब्रह्म को वह विषयरूप से नहीं जान सकता।

अहंकर्त्रात्मनि न्यस्तं चैतन्ये कर्तृतादि यत् ।
नेति नेतीति तत्सर्वं साहंकर्त्रा निषिध्यते ॥ २५ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा में अहंकर्ता (साभास अन्तःकरण) ने जिन कर्तृत्वादि का आरोप किया है उन सबका अहंकर्ता के सहित 'नेति नेति' इत्यादि क्रम से निषेध किया जाता है ॥ २५ ॥

उपलब्धिः स्वयंज्योतिर्दृशिः प्रत्यक्सदक्रियः ।
साक्षात्सर्वान्तरः साक्षी चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः ॥ २६ ॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, चित्स्वरूप, प्रत्यक्, सत् एवं अक्रिय है। वह साक्षात् सर्वान्तर्यामी, सबका द्रष्टा, प्रकाशक, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय है ॥ २६ ॥

संनिधौ सर्वदा तस्य स्यात्तदाभोऽभिमानकृत् ।
आत्मात्मीयं द्वयं चातः स्यादहंममगोचरः ॥ २७ ॥

सर्वदा उसकी सन्निधि में रहने से अहंकार भी उसी के समान [चेतन-सा] जान पड़ता है। इसीसे अहं-ममविषयक आत्मभाव और आत्मीयभाव इन दोनों की प्रवृत्ति होती है ॥ २७ ॥

जातिकर्मादिमत्त्वाद्धि तस्मिञ्शब्दास्त्वहंकृति ।
न कश्चिद्वर्तते शब्दस्तदभावात्स्व आत्मनि ॥ २८ ॥

जाति एवं कर्मादि युक्त होने के कारण उस अहंकार में ही शब्दों की प्रवृत्ति होती है। किन्तु उन (जाति आदि) का अभाव होने के कारण आत्मा में कोई शब्द प्रवृत्त नहीं होता ॥ २८ ॥

आभासो यत्र तत्रैव शब्दाः प्रत्यग्दृशिं स्थिताः ।
लक्षयेयुर्न साक्षात्तमभिदध्युः कथंचन ॥ २९ ॥
न ह्यजात्यादिमान्कश्चिदर्थः शब्दैर्निरूप्यते ॥ ३० ॥

[यदि कहो कि इस प्रकार आत्मा में किसी शब्द की प्रवृत्ति न होने के कारण तो वेदान्तवाक्य भी उसका बोध नहीं करा सकते, क्योंकि वे भी शब्द

ही हैं, तो इस विषय में यह समझना चाहिये कि] जहाँ अहंकारादि में चैतन्य प्रतिबिम्ब की स्फूर्ति होती है वहीं पर स्थित हुए [आत्मादि] शब्द प्रत्यगात्मा को लक्षित कराते हैं, वे किसी भी प्रकार उसका साक्षात् प्रतिपादन नहीं करते; क्योंकि किसी भी जाति आदिरहित पदार्थ का शब्दों द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता ॥ २६–३० ॥

आत्माभासो यथाहंकृदात्मशब्दैस्तथोच्यते ।
उल्मुकादौ यथाग्न्यर्थाः परार्थत्वान्न चाञ्जसा ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार अहंकार आत्मा के समान प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मादि शब्दोंद्वारा उसका प्रतिपादन भी किया जाता है। जिस प्रकार अंगारादि में अग्नि के कार्य दाहादि का प्रयोग किया जाता है, वे दाहादि परार्थ (अग्न्यर्थक) होने के कारण साक्षात्‌रूप से अंगारादि में उनका प्रयोग नहीं होता[1] ॥३१॥

मुखादन्यो मुखाभासो यथादर्शानुकारतः ।
आभासान्मुखमप्येवमादर्शाननुवर्तनात् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार दर्पण का अनुवर्त्ती होनेके कारण मुखका प्रतिबिम्ब मुखसे भिन्न होता है उसी प्रकार दर्पणका अनुवर्ती न होनेसे मुख भी अपने प्रतिबिम्ब से भिन्न ही है ॥ ३२ ॥

अहंकृत्यात्मनिर्भासो मुखाभासवदिष्यते ।
मुखवत्स्मृत आत्मान्योऽविविक्तौ तौ तथैव च ॥ ३३ ॥

यहाँ अहंकार में आत्मा का प्रतिबिम्ब मुख के प्रतिबिम्ब के समान है और उससे भिन्न आत्मा मुख के समान कहा गया है, तथा उन (मुख और मुखाभास) के समान ही वे परस्पर विभिन्न हैं ॥ ३३ ॥

---

१ जिस समय तपे हुए लोहे से त्वचा का स्पर्श होने पर दाह होता है तो 'लोहे ने जला दिया' ऐसा कहा जाता है। किन्तु विचार किया जाय तो जलाना लोहे का धर्म नहीं है। ऐसा कह कर हम अग्नि के धर्म का लोहे में आरोप करते हैं। उसी प्रकार आत्मा के तादात्म्य से आत्मवत् प्रतीत होने के कारण अहंकार में आत्मत्व का अभ्यास होता है और उसके लिये आत्मादि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

संसारी च स इत्येक आभासो यस्त्वहंकृतिः ।
वस्तुच्छाया स्मृतेरन्यन्माधुर्यादि च कारणम् ॥ ३४ ॥

कोई-कोई वादी आत्मा के आभासरूप अहंकार को ही संसारी जीव बतलाते हैं। स्मृति के कथनानुसार छाया भी वस्तु (भावरूप पदार्थ) है तथा इसके वस्तुत्व में माधुर्यादि भी कारण हैं[1] ॥३४॥

ब्रह्मैकदेशो विकारो वा तदाभासाश्रयः परे ।
अहंकर्तैव संसारी स्वन्तत्र इति केचन ॥ ३५ ॥

कोई परमात्मा के एक देश को संसारी बतलाते हैं; कोई उसके विकार को कोई चिदाभासविशिष्ट अहंकार को और कोई स्वतन्त्र आत्मा को ही संसारी बतलाते हैं[2] ॥३५॥

अहंकारादिसंतानः संसारी नान्वयी क्वचित् ।
इत्येवं सौगता आहुस्तत्र न्यायो विचार्यताम् ॥ ३६ ॥

---

१ यह एकदेशी का मत है। यह चिदाभास को ही संसारी जीव मानता है। यदि कोई शंका करे कि आभास यानी छाया तो कोई वस्तु नहीं है तो इस विषय में उसका कथन है कि छाया भी वस्तु है। 'नाक्रमेत्कामतश्छायां गुर्वादेः' अर्थात् जान बूझकर गुरु आदि की छाया का अतिक्रमण न करे—इस स्मृति से छाया का वस्तुत्व प्रकट होता है, क्योंकि यदि छाया वस्तु न होती तो उसके अतिक्रमण में कोई दोष नहीं हो सकता था। इसके सिवा छाया में बैठे हुए पुरुष का मुख मधुर देखा जाता है तथा उसे शीतलता का भी अनुभव होता है; इससे भी छाया का वस्तुत्व सिद्ध होता है।

२ 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इस भगवद्वाक्य से कोई परमात्मा के एकदेश को संसारी बतलाता है। अग्निविस्फुलिंग का दृष्टान्त आत्मा के विकार में प्रमाण है। 'तन्मवो दिशो दिशं पतित्वा' इत्यादि श्रुति साभास अन्तःकरण के संसारित्व का द्योतक है। भट्टमतानुसार अहंकार ही संसारी है तथा द्वैतवादियों के मत में स्वतन्त्र जीव, जो परमात्मा का अंशादि नहीं है, संसारी है।

बौद्धों का ऐसा कथन है कि अहंकारादि क्षणिकविज्ञानसन्तति ही संसारी है, उसमें कोई अन्वयी नहीं है। इन सब मतों में कौन न्याययुक्त है—यह विचार करो ॥ ३६ ॥

संसारिणां कथा त्वास्तां प्रकृतं त्वधुनोच्यते ।
मुखाभासो य आदर्शे धर्मो नान्यतरस्य सः ।
द्वयोरेकस्य चेद्धर्मो वियुक्तेऽन्यतरे भवेत् ॥ ३७ ॥

[अस्तु] अब संसारियों की बात यहीं रहे, प्रस्तुत (आभास-सम्बन्धी) विषय का वर्णन किया जाता है[1] । दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह [दर्पण और मुख इन दोनों में से] किसी एक का धर्म नहीं है। यदि वह दोनों में से किसी एक का धर्म होता तो अन्य के अभाव में भी हो सकता था [किन्तु देखा यह जाता है कि दर्पण या मुख किसी भी एक का अभाव होने पर मुखाभास की प्रतीति नहीं होती; अतः यह एक का धर्म नहीं हो सकता] ॥३७॥

मुखेन व्यपदेशात्स मुखस्यैवेति चेन्मतम् ।
नादर्शानुविधानाच्च मुखे सत्यविभावतः ॥ ३८ ॥

यदि ऐसा माना जाय कि उसका मुखके द्वारा उल्लेख होता है, इसलिये वह मुख का ही धर्म है तो ठीक नहीं, क्योंकि वह दर्पण का अनुवर्ती है और [दर्पण के अभाव में] मुखके रहते हुए भी नहीं देखा जाता ॥ ३८ ॥

द्वयोरेवेति चेत्तन्न द्वयोरेवाप्यदर्शनात् ।
अदृश्यस्य सतो दृष्टिः स्याद्राहोश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ३९ ॥
राहोः प्रागेव वस्तुत्वं सिद्धं शास्त्रप्रमाणतः ।
छायापक्षे त्ववस्तुत्वं तस्य स्यात्पूर्वयुक्तितः ॥ ४० ॥

यदि कहो कि वह दोनों का धर्म है तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि दोनों के रहने अथवा न रहने में भी वह देखा नहीं जाता[2] । [और यदि

१ यहाँ से एकदेशी के मत का खण्डन आरम्भ होता है।
२ मुख और दर्पण में से किसी भी एक के अभाव में तो मुखाभास की

ऐसा मानें कि वह इन दोनों से भिन्न सत्य वस्तु है तथा] जिस प्रकार पूर्वसिद्ध राहु क प्रतीति सूर्य और चन्द्रमा की विद्यमानतामें ही होती है उसी प्रकार अदृश्य किन्तु विद्यमान प्रतिबिम्ब की प्रतीति [मुख और दर्पण का संयोग होने पर] होती है [तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि] राहु की वस्तुता तो चन्द्रग्रहणादि के पूर्व भी शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है; किन्तु छाया के पक्ष में [अर्थात् जो लोग पृथिवी आदि की छाया को ही राहु मानते हैं उनके मतानुसार] तो उसका अवस्तुत्व उपर्युक्त युक्ति से ही सिद्ध होता है ॥३९-४०॥

छायाक्रान्तेर्निषेधोऽयं नतु वस्तुत्वसाधकः ।
नह्यर्थान्तरनिष्ठं सद्वाक्यमर्थान्तरं वदेत् ॥ ४१ ॥

['गुरु आदि की छाया का अतिक्रमण न करे'—इस स्मृति में किया हुआ] छायातिक्रमण का निषेध भी उसके वस्तुत्व का साधक नहीं है, क्योंकि किसी एक अर्थ में स्थित हुआ वाक्य अन्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता ॥४१॥

माधुर्यादि च यत्कार्यमुष्णद्रव्याद्यसेवनात् ।
छायाया न त्वदृष्टत्वादपामेव च दर्शनात् ॥ ४२ ॥

छाया का जो माधुर्यादि कार्य देखा जाता है वह भी उष्णद्रव्यादि का सेवन न करने के कारण है, क्योंकि तपी हुई शिला की छाया में माधुर्य नहीं देखा जाता, किन्तु केवल जल में ही मधुरता की प्रतीति होती है ॥ ४२ ॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासासत्त्वमेव च ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार मुख, मुखका आभास और उसका आश्रय हैं उसी प्रकार आत्मा, आत्मा का आभास और उसका आश्रय—ये भी माने जाते हैं। वास्तव में तो शास्त्र और युक्तियों से आभास की असत्ता ही सिद्ध होती है ॥४३॥

अप्रतीति स्पष्ट ही है, किन्तु यदि उसे उनके संयोग का ही धर्म माना जाय तो भी उनका किसी प्रकार भी संयोग होने पर उसकी प्रतीति होनी चाहिये। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिये यह उनके संयोग का भी धर्म नहीं है।

न दृशेरविकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः ।
नाचितित्वादहंकर्तुः कस्य संसारिता भवेत् ॥ ४४ ॥

अविकारी होने के कारण साक्षी का संसारित्व नहीं है, अवस्तुरूप होने के कारण आभास संसारी नहीं हो सकता तथा अचेतन होने के कारण अहंकर्ता का संसारी होना सम्भव नहीं है। फिर यह [कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप] संसारित्व किसका माना जाय ? ॥ ४४ ॥

अविद्यामात्र एवातः संसारोऽस्त्वविवेकतः ।
कूटस्थेनात्मना नित्यमात्मवानात्मनीव सः ॥ ४५ ॥

अतः अविद्यामात्र ही संसार है। आत्मस्वरूप का विवेक न होने के कारण वह कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान् होकर सर्वदा आत्मा में [उसके धर्मरूप से] अवभासित होता है ॥ ४५ ॥

रज्जुसर्पो यथा रज्ज्वा सात्मकः प्राग्विवेकतः ।
अवस्तुसन्नपि ह्येष कूटस्थेनात्मना तथा ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार विवेक होने से पूर्व रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प रज्जु की सत्ता से सत्तावान् होता है उसी प्रकार अवस्तुरूप होने पर भी यह कूटस्थ आत्मा की सत्ता से सत्तावान् है ॥ ४६ ॥

आत्माभासाश्रयश्चात्मा प्रत्ययैः स्वैर्विकारवान् ।
सुखी दुःखी च संसारी नित्य एवेति केचन ॥ ४७ ॥

आत्मा ही आत्माभास [अर्थात् जीवत्व] का आश्रय है; वही अपने धर्मभूत प्रत्ययों के कारण विकारी तथा सुखी दुःखी एवं संसारी होता है। तथापि कोई-कोई वादी 'वह नित्य ही है' ऐसा मानते हैं ॥ ४७ ॥

आत्माभासापरिज्ञानाद्याथात्म्येन विमोहिताः ।
अहंकर्तारमात्मेति मन्यन्ते ते निरागमाः ॥ ४८ ॥

जो लोग आत्मा और आत्माभास का यथावत् ज्ञान न होने के कारण मोह

ग्रस्त हो रहे हैं तथा अहंकार ही आत्मा है ऐसा मानते हैं वे शास्त्रबाह्य हैं। [अर्थात् उन्हें शास्त्र के रहस्य का पता नहीं है]॥ ४८ ॥

संसारो वस्तुसंस्तेषां कर्तृभोक्तृत्वलक्षणः ।
आत्माभासाश्रयाज्ञानात्संसरन्त्यविवेकतः ॥ ४९ ॥

उनकी दृष्टि में कर्तृत्वरूप संसार भी परमार्थसत्य है तथा आत्मा आभास और आभास के आश्रय का ज्ञान न होने के कारण वे अविवेकवश [जन्म मरणरूप] संसार को प्राप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

चैतन्याभासता बुद्धेरात्मनस्तत्स्वरूपता ।
स्याच्चेत्तं ज्ञानशब्दैश्च वेदः शास्तीति युज्यते ॥ ५० ॥

यदि बुद्धि में चैतन्य का आभास और आत्मा का चित्स्वरूपत्व माना जाय तभी यह बात युक्तियुक्त हो सकती है कि वेद ज्ञानमय शब्दों द्वारा उसका उपदेश करें[1] ॥ ५० ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थौ यौ भिन्नावेकाश्रयौ यथा ।
करोति गच्छतीत्यादौ दृष्टौ लोकप्रसिद्धितः ॥ ५१ ॥

पूर्व०—'करोति' 'गच्छति' इत्यादि में जो प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ हैं वे जिस प्रकार भिन्न होने पर भी एक आश्रयवाले देखे जाते हैं उसी प्रकार लोकप्रसिद्धि से 'जानाति' आदि क्रिया का एक आत्मा के आश्रित होना भी युक्तियुक्त है[2] ॥ ५१ ॥

---

१ चैतन्य आत्मा का धर्म नहीं; अपि तु स्वरूप है, और बुद्धि जड है। इसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह चैतन्यधर्मवती प्रतीत होती है। यदि उसमें आत्मा का आभास न माना जाय तो केवल आत्मा या बुद्धि में शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक है और बुद्धि जड़ है। अतः चिदाभासविशिष्ट बुद्धि ही वेद के उपदेश को ग्रहण करती है और उसी के द्वारा लक्षणा से वेद आत्मा का बोध कराता है।

२ 'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य के 'गच्छति' पद में दो अंश हैं 'गम्' और 'ति'। इनमें गम्-धातु प्रकृति है, उसका अर्थ गमन क्रिया है तथा 'ति' प्रत्यय

नानयोर्द्व्याश्रयत्वं च लोके दृष्टं स्मृतौ तथा ।
जानात्यर्थेषु को हेतुर्द्व्याश्रयत्वे निगद्यताम् ॥ ५२ ॥

लोक और स्मृति (व्याकरणशास्त्र) में इनके दो आश्रय नहीं देखे गये। फिर 'जानाति' पदार्थ के दो आश्रय होने में ही क्या हेतु हो सकता है?— यह बतलाओ ॥ ५२ ॥

आत्माभासस्तु तिङ्वाच्यो धात्वर्थश्च धियः क्रिया ।
उभयं चाविवेकेन जानातीत्युच्यते मृषा ॥ ५३ ॥

सिद्धान्ती—['जानाति' आदि पदों में] आत्मा का आभास 'तिङ्' प्रत्यय का वाच्य है तथा बुद्धि की क्रिया धातु का अर्थ है। ये दोनों (प्रकृति और प्रत्यय) आत्मा और आत्माभास के अविवेकवश मिथ्या ही 'जानाति' इत्यादिरूप से [एक आश्रयवाले] कहे जाते हैं[1] ॥ ५३ ॥

न बुद्धेरवबोधोऽस्ति नात्मनो विद्यते क्रिया ।
अतो नान्यतरस्यापि जानातीति च युज्यते ॥ ५४ ॥

क्योंकि बुद्धि में तो ज्ञान नहीं है और आत्मा में कर्म नहीं है। अतः दोनों में से किसी के लिये भी 'जानाति' (जानता है) ऐसा नहीं कहा जा सकता ॥५४॥

नाप्यतो भावशब्देन ज्ञप्तिरित्यपि युज्यते ।
न ह्यात्मा विक्रियामात्रो नित्य आत्मेति शासनात् ॥ ५५ ॥

कर्तृत्व का सूचक है। इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ विभिन्न होने पर भी इन दोनों का आश्रय एकमात्र देवदत्त है। इसी प्रकार 'जानाति' आदि में एकमात्र आत्मा को आश्रय समझना चाहिये।

१ इस कथन से सिद्धान्ती का यह तात्पर्य है कि तुम जो एकमात्र आत्मा को 'जानाति' इत्यादि पद के अर्थों का आश्रय बतलाते हो वह अध्यास के कारण है, वास्तव में नहीं; क्योंकि बुद्धिवृत्ति क्रियारूपा है और बुद्धिगत चिदाभास प्रत्ययरूप; उन दोनों में अविवेकवश आत्मत्व का अध्यास होने से ही आत्मा को 'जानाति' आदि का आश्रय कहा जाता है।

इसी से 'ज्ञप्तिः ज्ञानम्' ऐसी भाववाच्य-व्युत्पत्ति करके भी आत्मा में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'आत्मा नित्य है' ऐसा श्रुति का उपदेश होने के कारण आत्मा विकारमात्र नहीं है[1] ॥ ५५ ॥

न बुद्धेर्बुद्धिवाच्यत्वं करणं न ह्यकर्तृकम् ।
नापि ज्ञायत इत्येवं कर्मशब्दैर्निरूप्यते ॥ ५६ ॥

['बुध्यतेऽनया इति बुद्धिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'बुद्धि' शब्द का वाच्य आत्मा नहीं है, बुद्धि ही है, क्योंकि करण बिना कर्ता के नहीं होता। तथा 'ज्ञायत इति ज्ञानम्' इस कर्म-व्युत्पत्ति के द्वारा भी आत्मा का निरूपण नहीं किया जा सकता[2] ॥ ५६ ॥

---

१ ऊपर बतलाया गया है कि 'जानातीति ज्ञः' अर्थात् जो जानता है—ज्ञान का कर्ता है वह ज्ञ है—ऐसी कर्तृवाच्य-व्युत्पत्ति करके आत्मा के लिये 'जानाति' इस पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक है। इस प्रकार का प्रयोग बुद्धि के लिये भी नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि जड़ है। बुद्धि और आत्मा मिलकर भी 'जानाति' क्रिया के कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि अन्धकार और प्रकाश के समान जड़ और चेतन का संयोग होना असम्भव है। इस श्लोक में यह बतलाते हैं कि 'ज्ञप्तिः ज्ञानम्' ऐसी भाववाच्य-व्युत्पत्ति करके भी आत्मा के लिये 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। भावशब्द धात्वर्थमात्र के द्योतक होते हैं, अतः यदि आत्मा को भाववाचक शब्द का वाच्य माना जाय तो वह क्रियात्मक निश्चित होगा, क्रियात्मक होने से वह विकारी होना चाहिये और विकारी होगा तो अनित्य होगा। किन्तु आत्मा नित्य माना गया है, इसलिये निर्विकार है; अतः वह भावशब्द का वाच्य नहीं हो सकता।

२ 'बुद्धि' शब्द 'ज्ञान' का पर्य्यायवाची है। अतः 'बुध्यते अनया' अर्थात् 'ज्ञायते अनया' (इसके द्वारा जाना जाता है इसलिये यह 'ज्ञान' है) ऐसी करणवाच्य-व्युत्पत्ति करें तो उसका कोई कर्ता होना चाहिये। किन्तु ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका आत्मा करण हो सके। अतः करणवाच्य 'बुद्धि' या 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग भी केवल अन्तःकरण के लिये ही हो सकता है। यदि 'ज्ञायते इति ज्ञानम्' (जाना जाता है—इसलिये ज्ञान है) ऐसी कर्मवाच्य-व्युत्पत्ति

न येषामेक एवात्मा निर्दुःखोऽविक्रियः सदा ।
तेषां स्याच्छब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं चात्मनः सदा ॥ ५७ ॥

[इस प्रकार] जिनके मत में सर्वदा एक ही निर्दुःख और निर्विकार आत्मा है उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा का शब्दवाच्यत्व और ज्ञेयत्व कभी सम्भव नहीं है ॥

यदाहंकर्तुरात्मत्वं तदा शब्दार्थमुख्यता ।
नाशनायादिमत्त्वात्तु श्रुतौ तस्यात्मतेष्यते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ की मुख्यता तो तभी हो सकती है जब अहंकार को आत्मा माना जाय; किन्तु वह क्षुधा-पिपासादि युक्त है, इसलिये श्रुति में उसका आत्मत्व नहीं माना जाता ॥ ५८ ॥

हन्त तर्हि न मुख्यार्थो नापि गौणः कथंचन ।
जानातीत्यादिशब्दस्य गतिर्वाच्या तथापि तु ॥ ५९ ॥

पूर्व०—अजी ! तब तो 'जानाति' इत्यादि शब्द का मुख्यार्थ या गौणार्थ कुछ भी सम्भव नहीं है; तथापि इसकी कोई न कोई गति तो बतलानी ही चाहिये ॥ ५९ ॥

शब्दानामयथार्थत्वे वेदस्याप्यप्रमाणता ।
सा च नेष्टा ततो ग्राह्या गतिरस्य प्रसिद्धितः ॥ ६० ॥

इस प्रकार शब्दों का अयथार्थत्व मानेंगे तो वेद की अप्रमाणता सिद्ध होगी, और यह इष्ट नहीं है। अतः लोकप्रसिद्धि से ही इनकी गति ग्रहण करनी चाहिये।

तो स्वयं ही अपना कर्म बने—ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये आत्मा कर्मवाच्य-व्युत्पत्ति का विषय भी नहीं हो सकता। यदि 'ज्ञायतेऽस्मिन्निति ज्ञानम्' (इसमें जाना जाता है, इसलिये यह ज्ञान है) ऐसी अधिकरणवाच्य-व्युत्पत्ति करें तो ज्ञातघटादि के अधिकरण भूतलादि में भी 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग होगा। यदि कहें कि ज्ञातृत्व होते हुए ज्ञेयाधार होने पर ही 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग हो सकता है तो जिस प्रकार भूतलादि में जड़ होने के कारण ज्ञातृत्व नहीं है उसी प्रकार आत्मा में कोई धर्म न होने के कारण ज्ञातृत्व का अभाव है।

[अर्थात् लोक में जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है उसी को उसका वाच्य मानना चाहिये] ॥ ६० ॥

प्रसिद्धिर्मूढलोकस्य यदि ग्राह्या निरात्मता ।
लोकायतिकसिद्धान्तः सा चानिष्टा प्रसज्यते ॥ ६१ ॥

[पूर्वपक्षी ने जो कहा कि लोकप्रसिद्धि से ही 'जानाति' आदि शब्दों की गति ग्रहण करनी चाहिये तो यह बतलाओ कि प्राकृत पुरुषों की प्रसिद्धि ग्रहण करने योग्य है या पाणिनि आदि विद्वानों की ? इनमें पहली प्रसिद्धि का खण्डन करते हैं—] यदि मूर्ख पुरुषों की प्रसिद्धि को ग्रहण किया जाय तो नास्तिकों का सिद्धान्त अनात्मवाद आ जाता है[1] और यह किसी को इष्ट है नहीं ॥ ६१ ॥

अभियुक्तप्रसिद्धिश्चेत्पूर्ववद् दुर्विवेकता ।
गतिशून्यं न वेदोऽयं प्रमाणं संवदत्युत ॥ ६२ ॥

और यदि [पाणिनि आदि] पण्डितों की प्रसिद्धि ग्रहण की जाय तो पूर्ववत् [आत्मा और बुद्धि इनमें से किसका ज्ञातृत्व है—इस बात का] विवेक करना कठिन है, किन्तु यह वेद प्रमाणभूत होते हुए [आत्मा के ज्ञातृत्व का] गतिशून्य के समान अनुवाद नहीं कर सकता। [अतः इसकी किस प्रकार संगति लगानी चाहिए तो आगे बतलाते हैं—] ॥ ६२ ॥

आदर्शे मुखसामान्यं मुखस्येष्टं हि मानवैः ।
मुखस्य प्रतिबिम्बो हि मुखाकारेण दृश्यते ॥ ६३ ॥

लोग दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के साथ ग्रीवास्थ मुख की समानता मानते हैं, किन्तु वहाँ मुख का प्रतिबिम्ब ही मुख के रूप में देखा जाता है[2] ॥ ६३ ॥

---

१ क्योंकि अज्ञानी लोग तो देहादि को ही आत्मा मानते हैं।

२ दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब देखा जाता है वह औपाधिक है तथा ग्रीवास्थ मुख से सर्वथा भिन्न है, तथापि उससे समानता होने के कारण लोगों को 'यह मेरा मुख है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी प्रकार यद्यपि आत्मा और आत्माभास परस्पर भिन्न हैं, तथापि उनका विवेक न होने के कारण साधारण

यत्र यस्यावभासस्तु तयोरेवाविवेकतः ।
जानातीति क्रियां सर्वो लोको वक्ति स्वभावतः ॥ ६४ ॥

अतः जिसमें जिसका अवभास होता है उन दोनों वस्तुओं के अविवेक से ही सब लोग स्वाभाविकरूप से 'जानाति' इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग करते हैं[1]॥६४॥

बुद्धेः कर्तृत्वमध्यस्य जानातीति ज्ञ उच्यते ।
तथा चैतन्यमध्यस्य ज्ञत्वं बुद्धेरिहोच्यते ॥ ६५ ॥

बुद्धि के कर्तृत्व का आरोप करके तो 'आत्मा जानता है' ऐसा कहा जाता है और बुद्धि में चैतन्य का आरोप करके उसका ज्ञानवत्त्व कहा जाता है[2]॥६५॥

स्वरूपं चात्मनो ज्ञानं नित्यं ज्योतिःश्रुतेर्यतः ।
न बुद्ध्या क्रियते तस्मान्नात्मनान्येन वा सदा ॥ ६६ ॥

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, अतः वह नित्य है; क्योंकि आत्मा के विषय में 'यह स्वयंज्योति है' ऐसी श्रुति[3] है। अतः बुद्धि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता और न आत्मा अथवा किसी अन्य के ही द्वारा उसकी कभी उत्पत्ति की जाती है ॥ ६६ ॥

पुरुषों को आत्माभास में ही आत्मत्व का भ्रम होता है और वे उसके कर्तृत्वादि का आत्मामें आरोप करते हैं ।

१ मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है; किन्तु अज्ञजन मुख और दर्पण का विवेक न होने के कारण दर्पणगत मलिनतादि का अपने मुख में आरोप करते हैं। इसी प्रकार चिदाभास की उपाधि बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्मों का आत्मा में आरोप किया जाता है।

२ आत्मा चेतन है और बुद्धि जड़ । आत्मा में बुद्धि के धर्म कर्तृत्वादि का आरोप होता है, इसीसे आत्मा को 'जानाति' शब्दद्वारा 'ज्ञ' कहा जाता है तथा बुद्धि में आत्मचैतन्य का अध्यास होता है, इसलिये उसे भी 'ज्ञ' कहा जाता है।

३ 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिरात्मैवास्य ज्योतिः' 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' 'साक्षी चेता' इत्यादि ।

देहेऽहंप्रत्ययो यद्वज्जानातीति च लौकिकाः ।
वदन्ति ज्ञानकर्तृत्वं तद्वद् बुद्धेस्तथात्मनः ॥ ६७ ॥

[बुद्धि और आत्मा के अन्योन्याध्यास से ही ज्ञातृत्वादि व्यवहार होता है-इस विषय में एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिया जाता है-] जिस प्रकार साधारण मनुष्यों को देह में अहंप्रत्यय होता है [और उसके कारण वे अपने को कृश, स्थूल, गौर, श्याम, रोगी, नीरोग आदि समझते हैं] उसी प्रकार लौकिक पुरुष [बुद्धि में आत्मत्व का अध्यास कर] 'जानाति' इस शब्दद्वारा बुद्धि का ज्ञानकर्तृत्व प्रदर्शित करते हैं और इसी प्रकार [बुद्धि के कर्तृत्व का आत्मा में आरोप कर] वे आत्मा का भी ज्ञानाश्रयत्व बतलाते हैं ॥ ६७ ॥

बौद्धैस्तु प्रत्ययैरेवं क्रियमाणैश्च चिन्निभैः ।
मोहिताः क्रियते ज्ञानमित्याहुस्तार्किका जनाः ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार चेतन के समान प्रतीत होने वाले बुद्धि के उत्पद्यमान प्रत्ययों से मोहित हुए नैयायिक लोग 'ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा कहते हैं[1] ॥६८॥

तस्माज्ज्ञाभासबुद्धीनामविवेकात्प्रवर्तिताः ।
जानातीत्यादिशब्दश्च प्रत्ययो या च तत्स्मृतिः ॥ ६९ ॥

अतः चेतन, चिदाभास और बुद्धि इन तीनों के अविवेक से ही 'जानाति' इत्यादि शब्द, तद्विषयक ज्ञान और उसकी स्मृति की प्रवृत्ति हुई है ॥६९॥

---

१ आत्मा नित्य-ज्ञानस्वरूप है। बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ने पर बुद्धि चेतन के समान जान पड़ती है और इसी से 'घटज्ञान, पटज्ञान' ऐसे वृत्तिज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यह सब बुद्धि और आत्मा के अन्योन्याध्यास के कारण ही होता है। तथापि नैयायिक ऐसा न मानकर उसे (वृत्तिज्ञान को) आत्मकर्तृक ही मानते हैं। किन्तु यदि आत्मा में कर्तृत्वादि विकार माना जायगा तो वह अनित्य सिद्ध होगा। अतः ये कर्तृत्वादि चिदाभासविशिष्ट बुद्धि के ही धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही अखण्ड आकाश घटादि से नाना प्रतीत होता है उसी प्रकार एक ही नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धिरूप उपाधि के कारण अनेकविध वृत्तिज्ञान के कारण विभिन्न-सा जान पड़ता है।

आदर्शानुविधायित्वं छायाया अस्यते मुखम् ।
बुद्धिधर्मानुकारित्वं ज्ञाभासस्य तथेष्यते ॥ ७० ॥

जिस प्रकार मुखाभास में जो दर्पण का अनुवर्तन होता है उसका मुख में आरोप किया जाता है उसी प्रकार चिदभास जो बुद्धि के धर्मों का अनुकरण करता है उसे चेतन में माना जाता है ॥ ७० ॥

बुद्धेस्तु प्रत्ययास्तस्मादात्माभासेन दीपिताः ।
ग्राहका इव भासन्ते दहन्तीवोल्मुकादयः ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार अंगारादि [अग्नि से व्याप्त होने के कारण] जलते हुए-से जान पड़ते हैं उसी प्रकार चिदाभास से प्रकाशित हुए बुद्धि के प्रत्यय प्रकाश-कर्ता-से प्रतीत होते हैं ॥ ७१ ॥

स्वयमेवावभास्यन्ते ग्राहकाः स्वयमेव च ।
इत्येवं ग्राहकास्तित्वं प्रतिपिद्ध्यन्ति सौगताः ॥ ७२ ॥

'प्रत्ययगण स्वयं ही प्रकाशित होते हैं और स्वयं ही अपने प्रकाश हैं'—ऐसा कह कर बौद्धगण [प्रत्यय (विज्ञान) से भिन्न किसी अन्य] प्रकाशक की सत्ता का निषेध करते हैं ॥ ७२ ॥

यद्येवं नान्यदृश्यास्ते किं तद्वारणमुच्यताम् ।
भावाभावौ हि तेषां यौ नान्यग्राह्यौ सता यदि ॥ ७३ ॥

इस प्रकार यदि [बौद्धगण ऐसा कहते हैं कि] वे प्रत्ययसमूह किसी अन्य के दृश्य नहीं हैं तो यह बतलाओ कि उनके इस कथन का किस प्रकार निषेध किया जाय ? [उत्तर] उन प्रत्ययों के जो उत्पत्ति और विनाश हैं वे यदि किसी अन्य स्वतःसिद्ध साक्षी से ग्राह्य हैं, तो भी उन्हें चिदाभास ग्राह्य मानने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ७३ ॥

अन्वयी ग्राहकस्तेषामित्येतदपि तत्समम् ।
अचितित्वस्य तुल्यत्वादन्यस्मिन्ग्राहके सति ॥ ७४ ॥

[किन्तु] उनका कोई स्थायी ग्राहक है—ऐसा मानने पर वह ग्राहक भी

उन प्रत्ययों के समान जड ही होगा, क्योंकि उसका कोई अन्य ग्राहक होने पर तो उसका अचेतनत्व भी [प्रत्ययों के] समान ही है[1] ॥ ७४ ॥

अध्यक्षस्य समीपे तु सिद्धिः स्यादिति चेन्मतम् ।
नाध्यक्षेऽनुपकारित्वादन्यत्रापि प्रसङ्गतः ॥ ७५ ॥

और यदि ऐसा मानो कि साक्षी चेतन की सन्निधिमात्र से प्रत्ययों का प्रकाशन हो जायगा [चिदाभास की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि [निर्विकार कूटस्थ] साक्षी में किसी प्रकार के उपकारित्व की सम्भावना नहीं है और [यदि किसी प्रकार उसमें ऐसा उपकारित्वधर्म स्वीकार भी करें तो उसकी सन्निधि सबके साथ समान होने के कारण] अन्यत्र [काष्ठ-लोष्टादि में] भी प्रत्ययप्रकाशन के सामर्थ्य का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ॥ ७५ ॥

अर्थी दुःखी च यः श्रोता स त्वध्यक्षोऽथवेतरः ।
अध्यक्षस्य च दुःखित्वमर्थित्वं च न ते मतम् ॥ ७६ ॥

[इसके सिवा यह प्रश्न भी होता है कि] मोक्ष की कामना करने वाला और

१ बौद्ध लोग विषय और उसके ग्राहक दोनों ही को विज्ञानरूप मानते हैं। उनके इस मत का खण्डन करते हुए यहाँ यह दिखाया जाता है कि जो लोग केवल बुद्धि और कूटस्थ चेतन की ही सत्ता स्वीकार करते हैं उनका मत भी ठीक नहीं है। बुद्धि के प्रत्ययों को ग्रहण करने वाली वस्तु या तो स्वयंप्रकाश होगी या परप्रकाश्य। यदि वह परप्रकाश्य है तो जड होने के कारण प्रत्ययों का प्रकाशन नहीं कर सकती और यदि किसी प्रकार उसमें ऐसा सामर्थ्य माना भी जाय तो यह प्रश्न होगा कि जिससे वह प्रकाशित होती है वह वस्तु परप्रकाश्य है या स्वयप्रकाश ? यदि उसे भी परप्रकाश्य माने तो अनवस्थादि दोष उपस्थित होते हैं और यदि स्वयंप्रकाश मानते हैं तो साक्षी-चेतन की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस श्लोक में परप्रकाश्य प्रकाशक का खण्डन कर आगे उन लोगों के मत का खण्डन करते हैं जो साक्षी चेतन की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु चिदाभास को मानने की आवश्यकता नहीं समझते।

संसार दुःख से दुःखी जो श्रोता है वह बुद्धि है या साक्षी अथवा कोई और ? तुम्हें साक्षी का दुःखित्व और मुमुक्षुत्व तो स्वीकार नहीं है ॥ ७६ ॥

कर्ताऽध्यक्षः सदस्मीति नैव सद्ग्रहमर्हति ।
सदेवासीति मिथ्योक्तिः श्रुतेरपि न युज्यते ॥ ७७ ॥

इसके सिवा 'मैं कर्ता और साक्षी सत् हूँ' ऐसा मानने से आत्मा का 'सत्' शब्द से निर्दिष्ट ब्रह्मरूप से ग्रहण नहीं हो सकता।[1] 'और 'तू सत् ही है' ऐसा श्रुति का वचन भी मिथ्याभाषण होना उचित नहीं है। [अतः शुद्ध चेतन में कर्तृत्व दुःखित्व एवं अर्थित्वादि विकारी धर्मों का होना सम्भव नहीं है] ॥७७॥

अविविच्योभयं वक्ति श्रुतिश्चेत्स्याद्ग्रहस्तथा ।
अस्मदस्तु विविच्यैव त्वमेवेति वदेद्यदि ।
प्रत्ययान्वयिनिष्ठत्वमुक्तदोष प्रसज्यते ॥ ७८ ॥

यदि श्रुति [आत्मा और अहंकार] दोनों का विवेक न करके ऐसा कहती है तब तो इस वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो सकता है, और यदि अहमर्थ (शुद्ध चेतन) से अहंकार का विवेक करके उसके विषय में 'तू वह (ब्रह्म) है' इस प्रकार [ब्रह्म का] अहंकारनिष्ठत्व बतलाती है तो उपर्युक्त [मिथ्याभाषण-रूप] दोष का प्रसंग आ जाता है[2] ॥ ७८ ॥

---

१ क्योंकि 'कर्ता' और 'साक्षी' एक ही वस्तु एक साथ नहीं हो सकती। ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं और एक ही वस्तु में एक साथ दो विरुद्धधर्मों का रहना सम्भव नहीं है। कर्ता कर्तृत्वादिधर्मयुक्त होने के कारण विकारी होता है और साक्षी कर्तृत्वादि-शून्य होता है।

२ श्रुति का कथन है 'तत्त्वमसि' (तू ब्रह्म है)। यह कथन चिदाभास के द्वारा आत्मा और अहंकार का अविवेक होनेपर ही सार्थक हो सकता है, क्योंकि संसार-दुःख से दुःखी अहंकार ही मोक्ष की कामना कर सकता है और उसी का आत्मज्ञान-द्वारा मोक्ष होना सम्भव है। यदि आत्मा से अहंकार को अलग करके उसे ब्रह्मस्वरूप कहा जायगा तो श्रुति के मिथ्याभाषण का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः श्रुति का यह उपदेश उसी के लिये है जिसने अध्यासद्वारा अविवेकवश अहंकार के दुःखित्वादि का आत्मा में आरोप किया हुआ है।

त्वमित्यध्यक्षनिष्ठश्चेदहमध्यक्षयोः कथम् ।
संबन्धो वाच्य एवात्र येन त्वमिति लक्षयेत् ॥ ७९ ॥

और यदि त्वंपद [अहंकार का वाचक होनेपर भी] साक्षीपरक माना जाय तो यहाँ यह बतलाना चाहिये कि साक्षी और अहंकार का किस प्रकार से सम्बन्ध है, जिससे कि 'त्वं'पद साक्षी को लक्षित कर देता है ॥७९॥

द्रष्टृदृश्यत्वसंबन्धो यद्यध्यक्षेऽक्रिये कथम् ॥ ८० ॥

यदि उनका द्रष्टृ-दृश्यत्वरूप सम्बन्ध माना जाय तो साक्षी में उस सम्बन्ध का ग्रहण किस प्रकार किया जाता है ?[1] ॥ ८० ॥

अक्रियत्वेऽपि तादात्म्यमध्यक्षस्य भवेद्यदि ।
आत्माध्यक्षो ममास्तीति संबन्धाग्रहणे न धीः ॥ ८१ ॥

यदि कहो कि अक्रिय होनेपर भी श्रुति अहंकार के साथ साक्षी का तादात्म्य उपदेश करती है तो सम्बन्ध का ग्रहण न होनेपर तो 'मेरा आत्मा साक्षी है' ऐसी बुद्धि भी नहीं हो सकती[2]॥ ८१ ॥

संबन्धग्रहणं शास्त्रादिति चेन्मन्यसे नहि ।
पूर्वोक्ताः स्युस्त्रिधा दोषा ग्रहो वा स्यान्ममेति च ॥ ८२ ॥

और यदि ऐसा मानो कि शास्त्र से ही उनके सम्बन्ध का ग्रहण हो जायगा तो पूर्वोक्त तीन दोष[3] उपस्थित होंगे; तथा उसका ग्रहण भी 'मेरा

---

१ क्योंकि साक्षी निर्विकार है, इसलिये उसमें सम्बन्धग्रहणकर्तृत्वरूप विकारी धर्म नहीं रह सकता; तथा अहंकार जड है, इसलिये वह भी उस सम्बन्ध को ग्रहण नहीं कर सकता ।

२ जिस प्रकार लोक में 'घट का शुक्लत्व' इस स्थान में घट और शुक्लत्व का सम्बन्ध जाने बिना उन दोनों के तादात्म्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार 'मेरा आत्मा साक्षी है' इस स्थल में अपना और आत्मा का सम्बन्ध ज्ञात हुये बिना उनका तादात्म्यज्ञान नहीं हो सकता ।

३ अहंकार जड है, इसलिये वह सम्बन्ध को ग्रहण नहीं कर सकता;

आत्मा साक्षी है' इस प्रकार ही हो सकता है ['मैं साक्षी हूँ' ऐसा नहीं हो सकता][1] ॥८२॥

अहंशिर्दशिरूपेण भाति बुद्धिर्यदा तदा ।
प्रत्यया अपि तस्याः स्युस्तप्तायोविस्फुलिङ्गवत् ॥ ८३ ॥

जब अचेतन बुद्धि [चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से] चेतन के समान प्रकाशयुक्त होती है तो तपे हुए लोहे की चिनगारियों के समान उसकी वृत्तियाँ भी चेतनरूप हो जाती हैं[2] ॥ ८३ ॥

आभासस्तदभावश्च दृशेः सीम्नो न चान्यथा ।
लोकस्य युक्तितः स्यातां तद्ग्रहश्च तथासति ॥ ८४ ॥

ऐसा होनेपर ही सबके अवधिभूत आत्मा के प्रति लोक का आभास तथा उसका अभाव होना युक्तिद्वारा सिद्ध हो सकता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। तथा [ऐसी अवस्था में ही 'मैं हूँ' इस प्रकार] आत्मा का ग्रहण हो सकता है[3] ॥ ८४ ॥

निर्विकार होने के कारण साक्षी उसे ग्रहण नहीं कर सकता। तथा जड के प्रति श्रुति का बोधकत्व सिद्ध नहीं होता। ये तीन प्रकार के दोष हैं।

१ श्रुति कहती है "एष म आत्मान्तर्हृदये अणीयान्……एतद् ब्रह्मेति" अर्थात् यह मेरा सूक्ष्म आत्मा हृदय के अन्तर्गत है। यह ब्रह्म है। इस वाक्य से 'मेरा आत्मा' ऐसा पद होने के कारण 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा ग्रहण नहीं हो सकता।

२ जिस प्रकार दाह करना अग्नि का काम है, परन्तु जिस समय लोहे में अग्नि का तादात्म्य होता है तो 'लोहा जलाता है' ऐसा कहा जाता है इसी प्रकार चिदाभास से व्याप्त बुद्धि की जो वृत्तियाँ होती हैं उनमें जो ज्ञानकर्तृत्व है वह चिदाभास का ही धर्म है; बुद्धि में तो अविवेकवश उसका आरोप किया जाता है।

३ आत्मा समस्त वस्तुओं की अवधि है, क्योंकि अन्य सब पदार्थों का निषेध कर देने पर केवल आत्मा ही शेष रह जाता है और उसका निषेध भी नहीं किया जा सकता। लोक का आभास तथा उसका अभाव बुद्धिवृत्तिरूप हैं; किन्तु ये

नन्वेवं दृशिसंक्रान्तिरयःपिण्डेऽग्निवद्भवेत् ।
मुखाभासवदित्येतदादर्शे तन्निराकृतम् ॥ ८५ ॥

[पूर्व०–] इस प्रकार तो लोहपिण्ड में अग्नि के समान बुद्धि में आत्मा का संक्रमण (प्रवेश) सिद्ध होता है। [सिद्धान्ती–] नहीं, दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान [बुद्धि में आत्मा का आभास पड़ता है] इस दृष्टान्तद्वारा इसका निराकरण कर दिया गया है ॥ ८५ ॥

कृष्णायोलोहिताभासमित्येतद् दृष्टमुच्यते ।
दृष्टदार्ष्टान्ततुल्यत्वं न तु सर्वात्मना क्वचित् ॥ ८६ ॥

[किन्तु इस विषय में तपे हुए लोहे की चिनगारियों का दृष्टान्त क्यों दिया जाता है, क्योंकि वे तो विकारी हैं अतः दार्ष्टान्त के अनुरूप नहीं है—ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि देखो,] काले लोहे का लोहितवर्ण आभास होता है अतः यह केवल दृष्टान्तमात्र है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की सर्वथा समानता कहीं नहीं हुआ करती ॥ ८६ ॥

तथैव चेतनाभासं चित्तं चैतन्यवद्भवेत् ।
मुखाभासो यथादर्शे आभासश्चोदितो मृषा ॥ ८७ ॥

इसी प्रकार चिदाभासविशिष्ट चित्त चैतन्यवत् प्रतीत होता है। तथा जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार यह चिदाभास तो मिथ्या ही बतलाया गया है ॥ ८७ ॥

चित्तं चेतनमित्येतच्छास्त्रयुक्तिविवर्जितम् ।
देहस्यापि प्रसङ्गः स्याच्चक्षुरादेस्तथैव च ॥ ८८ ॥

[यदि कहो कि चिदाभास की व्याप्ति से चित्त को चेतन क्यों मानते हो ! बुद्धिवृत्तियाँ न तो जड बुद्धि की ही विषय हो सकती हैं और न निर्विकार आत्मा की ही। अतः उनकी सिद्धि के लिये चिदाभास स्वीकार करना चाहिये। उसी के द्वारा आत्मा बुद्धिवृत्तियों का साक्षी होता है और उसीसे 'मैं हूँ' इस प्रकार विशेषरूप से आत्मसत्ता का ग्रहण होता है।

उसे स्वयं चेतन मानने में क्या आपत्ति है ?—तो ऐसी शंका करनी उचित नहीं, क्योंकि] चित्त चेतन है—यह कथन शास्त्र और युक्ति से विरुद्ध है। इससे तो देह और चक्षु आदि इन्द्रियों के चेतनत्व का भी प्रसंग उपस्थित हो सकता है ॥ ८८ ॥

तदप्यस्त्विति चेत्तन्न लोकायतिकसंगतेः।
न च धीर्दशिरस्मीति यद्याभासो न चेतसि ॥ ८९ ॥

यदि कहो कि ऐसा हो जाने दो तो यह ठीक नहीं, इससे तो चार्वाकमतकी प्राप्ति हो जाती है। यदि चित्त में चिदाभास की सत्ता न हो तो 'मैं चेतन (ब्रह्म) हूँ' ऐसी बुद्धि भी नहीं हो सकती ॥ ८९ ॥

सदस्मीति धियोऽभावे व्यर्थं स्यात्तत्त्वमस्यपि।
युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः ॥ ९० ॥

'मैं सत्स्वरूप हूँ' ऐसी बुद्धि न होने पर तो 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य भी व्यर्थ ही है। यह वाक्य तो युष्मत्पदवाच्य जडवस्तु और अस्मत्पदलक्ष्य आत्मा का विवेक रखनेवाले पुरुष के प्रति ही सार्थक हो सकता है ॥ ९० ॥

ममेदंप्रत्ययौ ज्ञेयौ युष्मद्येव न संशयः।
अहमित्यस्मदीष्टः स्यादयमस्मीति चोभयोः ॥ ९१ ॥

जिन पदार्थों में 'मम' (मेरा) और 'इदम्' (यह) ज्ञान होता है, उन्हें निःसन्देह युष्मत्पदवाच्य ही समझना चाहिये। 'अहम्' (मैं) यह ज्ञान अस्मत्पदवाच्य व्यावहारिक आत्मा में माना जाता है तथा 'यह (देहादि) मैं हूँ' ऐसा ज्ञान आत्मा और अनात्मा दोनों ही में हो सकता है ॥ ९१ ॥

अन्योन्यापेक्षया तेषां प्रधानगुणतेष्यते।
विशेषणविशेष्यत्वं तथा ग्राह्यं हि युक्तितः ॥ ९२ ॥

इन आत्म विषयक और अनात्मविषयक प्रत्ययों में एक-दूसरे की अपेक्षा से प्रधानता और अप्रधानता मानी जाती है। इसी प्रकार युक्तिपूर्वक इनका विशेष्य-विशेषणभाव भी समझना चाहिये ॥ ९२ ॥

ममेदं द्वयमप्येतन्मध्यमस्य विशेषणम् ।
धनी गोमान्यथा तद्वद्देहोऽहंकर्तुरेव च ॥ ९३ ॥

'मम' और 'इदम्' ये दोनों पूर्वश्लोक (९१) के मध्य में निर्दिष्ट अहमर्थ के विशेषण हैं और जिस प्रकार 'धनी' तथा 'गौओं वाला' [इनमें 'धन' और 'गौ' पुरुष के विशेषण] हैं उसी प्रकार शरीर अहंकार का विशेषण है[1] ॥ ९३ ॥

बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं साहंकर्ता च साक्षिणः ।
तस्मात्सर्वावभासो ज्ञः किंचिदप्यस्पृशन्सदा ॥ ९४ ॥

बुद्धिवृत्ति के विषयभूत समस्त पदार्थ तथा अहंकार के सहित सम्पूर्ण सूक्ष्म विषयसाक्षी आत्मा के विशेषण हैं । अतः आत्मा किसी का भी स्पर्श न करते हुए सर्वदा सबको प्रकाशित करने वाला और ज्ञानस्वरूप है ॥ ९४ ॥

प्रतिलोममिदं सर्वं यथोक्तं लोकबुद्धितः ।
अविवेकधियामस्ति नास्ति सर्वं विवेकिनाम् ॥ ९५ ॥

किन्तु लौकिक बुद्धि के अनुसार यह पूर्वोक्त समस्त विशेष्य-विशेषणभाव इसके विपरीत है । वस्तुतः यह विशेष्य-विशेषणादि क्रम विवेकहीन पुरुषों की दृष्टि से है, विवेकियों की दृष्टि से यह सब कुछ भी नहीं है[2] ॥ ९५ ॥

---

१ श्लोक ९२ और ९३ में यह बात बतलायी गयी है कि जो लोग आत्मा और देहादि अनात्मा के भेद का ज्ञान रखते हैं वे बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर आन्तरिक पदार्थों को प्रधान मानते हैं । अतः जिस प्रकार धन के कारण मनुष्यों को धनी और गौओं के कारण उसे गौओं वाला कहा जाता है, तथा ये शब्द उसके विशेषण होते हैं उसी प्रकार 'मम' 'इदम्' आदि समस्त प्रत्यय आत्मा के विशेषण हैं । यहाँ प्रधान को विशेष्य और अप्रधान को विशेषण समझना चाहिये । आत्मा सभी के अपेक्षा प्रधान और आन्तरतम है । इसलिए यही सबका विशेष्य है ।

२ किन्तु यह विशेष्य-विशेषणभाव उन्हीं की दृष्टि से है जो आत्मा एवं अनात्मा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं और अनात्मा की अपेक्षा

अन्वयव्यतिरेकौ हि पदार्थस्य पदस्य च ।
स्यादेतदहमित्यत्र युक्तिरेवावधारणे ॥ ९६ ॥

[आत्मा और अनात्मारूप] पदार्थ एव पद के अन्वय व्यतिरेक—ये 'अहम्' इस वस्तु का निश्चय करने में युक्ति हैं[1] ॥ ९६ ॥

नाद्राक्षमहमित्यस्मिन्सुषुप्तेऽन्यन्मनागपि ।
न वारयति दृष्टिं स्वां प्रत्ययं तु निषेधति ॥ ९७ ॥

'इस सुषुप्ति अवस्था में मैंने अन्य कुछ भी नहीं देखा' ऐसा अनुभव अपनी दृष्टि का निषेध नहीं करता, केवल प्रत्यय (प्रमाता प्रमाण और प्रमेयरूप त्रिपुटी) का ही निषेध करता है ॥ ९७ ॥

स्वयंज्योतिर्न हि द्रष्टुरित्येवं संविदोऽस्तिताम् ।
कौटस्थ्यं च तथा तस्याः प्रत्ययस्य तु लुप्तताम् ।
स्वयमेवाब्रवीच्छास्त्रं प्रत्ययावगती पृथक् ॥ ९८ ॥

आत्मा को प्रधान समझते हैं। तत्त्वज्ञों की दृष्टि में आत्मा से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। इसलिए उनके लिए यह विशेष्य-विशेषण-भाव भी नहीं है। तथा संसारी पुरुष शरीरादि अनात्मा को ही प्रधान समझते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में आत्मा ही अनात्मा का विशेषण है।

१ पदार्थ और पद के अन्वय एवं व्यतिरेक के बिना आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। पदार्थों का अन्वय और व्यतिरेक इस प्रकार समझना चाहिये—आत्मपदार्थ सबका द्रष्टा एवं साक्षी है, वह कभी दृश्य अथवा साक्षीभास्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है। किन्तु अहंकारादि विषय साक्षीभास्य हैं। इसलिए अप्रधान होने के कारण वे आत्मा के विशेषण हैं। पदों का अन्वय-व्यतिरेक इस प्रकार है—ब्रह्म, चैतन्य प्रभृति शब्द शुद्ध आत्मा के बोधक हैं, अतः विशेषण न होने के कारण वे तद्विशिष्ट किसी अन्य वस्तु का बोध नहीं करा सकते। किन्तु कर्ता, भोक्ता आदि शब्द देहेन्द्रियादिविशिष्ट आत्मा के बोधक हैं। इस प्रकार पद और पद के अर्थों के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान होने पर ही महावाक्यार्थ-तत्त्व का बोध करा सकते हैं।

"[इस अवस्था में यह पुरुष] स्वयंप्रकाश होता है[1]" तथा "द्रष्टा की दृष्टि का [लोप नहीं होता[2]]" इन श्रुतियों द्वारा शास्त्र स्वयं ही उस अवस्था में चैतन्य के अस्तित्व और कूटस्थता का तथा उसके प्रत्यय के लोप का प्रतिपादन करता है। अतः प्रत्यय और ज्ञान परस्पर पृथक् हैं ॥ ९८ ॥

एवं विज्ञातवाक्यार्थे श्रुतिलोकप्रसिद्धितः ।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रुति और लोक की प्रसिद्धि से [तथा अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा] जिसे वाक्यार्थ का ज्ञान हो गया है उस पुरुष के मोह की निवृत्ति के लिये श्रुति 'तत्त्वमसि' (तू ब्रह्म है) ऐसा उपदेश करती है ॥९९॥

ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापानुदत्तमः ।
तस्य विष्णुत्वसंबोधे न यत्नान्तरमूचिवान् ॥ १०० ॥

जिस प्रकार कि ब्रह्माजी ने ['हे राम ! तुम विष्णु हो'—इस] वाक्य के द्वारा ही दशरथकुमार राम का अज्ञान[3] निवृत्त कर दिया था। उन्होंने उनके विष्णुत्व का बोध कराने में [इस वाक्यार्थ का उपदेश करने के सिवा] कोई और यत्न नहीं बतलाया ॥ १०० ॥

अहंशब्दस्य निष्ठा या ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि ।
सैवोक्ता सदसीत्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥ १०१ ॥

इसी प्रकार 'अहम्' शब्द की जो ज्योतिःस्वरूप प्रत्यगात्मा में निष्ठा है [अर्थात् अहंशब्द से जो स्वयंप्रकाश सर्वसाक्षी परब्रह्म लक्षित होता है] उसी का 'तू सत्स्वरूप है' इस वाक्य द्वारा उपदेश किया गया है। उसका फल मोक्ष है ॥ १०१ ॥

---

१ अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः ।

२ न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।

३ दशरथकुमार भगवान् राम ने देवकार्य की सिद्धि के लिये मनुष्यावतार का नाट्य करते हुए जो संकल्पपूर्वक अपने ज्ञान को आच्छादित कर लिया था उसीको यहाँ 'अज्ञान' कहा गया है।

श्रुतमात्रेण चेन्न स्यात्कार्यं तत्र भवेद् ध्रुवम् ।
व्यवहारात्पुरापीष्टः सद्भावः स्वयमात्मनः ॥ १०२ ॥

यदि वाक्यश्रवणमात्र से ही ज्ञान न हो सकता हो तो अवश्य उसके लिये कार्य की अपेक्षा हो सकती है । किन्तु स्वयं आत्मा की सत्ता तो [वाक्योपदेश-रूप] व्यवहार से पूर्व भी मानी गयी है[1] ॥ १०२ ॥

अशनायादिनिर्मुक्त्यै तत्काला जायते प्रमा ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थे त्रिषु कालेऽप्यसंशयः ॥ १०३ ॥

[इसके सिवा] आप्तवाक्यश्रवणकाल में उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान क्षुधापिपासादिरूप संसार की निवृत्ति का कारण भी होता है[2] । तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य के अर्थ में तीनों काल में भी कोई संशय नहीं है[3] ॥१०३॥

प्रतिबन्धविहीनत्वात्स्वयं चानुभवात्मनः ।
जायेतैव प्रमा तत्र स्वात्मन्येव न संशयः ॥ १०४ ॥

[इसके अतिरिक्त] पदार्थों के अज्ञानरूप प्रतिबन्ध का अभाव होने के कारण तथा स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति भी हो जाती है–इसमें सन्देह नहीं[4] ॥१०४॥

---

१ यदि वाक्यश्रवण को तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण न माना जाय तो चार प्रकार से उसकी अप्रामाणिकता हो सकती है—(१) विपर्यासरूपा, (२) निष्फलत्वरूपा, (३) संशयरूपा तथा (४) अनुत्पत्तिरूपा । इनमें से विपर्यासरूपा अप्रामाणिकता का इस श्लोक के उत्तरार्धद्वारा खण्डन किया गया है । तात्पर्य यह है कि वाक्योपदेश से पूर्व आत्मा की सत्ता है ही, अतः वाक्योपदेश के द्वारा उसके अज्ञान की निवृत्ति होने पर जो ज्ञान होता है वह शुक्ति-रजत के समान अप्रामाणिक नहीं हो सकता ।

२ अतः वह निष्फल नहीं है । इससे वाक्यार्थोपदेश की निष्फलत्वरूपा अप्रामाणिकता का निषेध किया गया है ।

३ इसलिये इसकी संशयरूपा अप्रामाणिकता भी नहीं हो सकती ।

४ अतः ऐसा संशय नहीं किया जा सकता कि वाक्यार्थोपदेशमात्र से तत्त्व-

किं सदेवाहमस्मीति किंवान्यत्प्रतिपद्यते ।
सदेव चेदहंशब्दः सता मुख्यार्थ इष्यताम् ॥ १०५ ॥

["तत्त्वमसि" इस वाक्य का अर्थ श्रवण करने के अनन्तर] 'मैं सत् ही हूँ' ऐसा ज्ञान होता है अथवा कोई और ज्ञान होता है। यदि 'अहम्' शब्द सत् ही है तो सत् के साथ ही उसका मुख्य अर्थ समझना चाहिये ॥ १०५ ॥

अन्यच्चेत्सदहंग्राहप्रतिपत्तिर्मृषैव सा ।
तस्मान्मुख्यग्रहे नास्ति वारणाऽवगतेरिह ॥ १०६ ॥

और यदि सत् [आत्मा से भिन्न] कोई और वस्तु है तो उसमें यह अहंज्ञान मिथ्या ही होता है। अतः इस वाक्य का मुख्य अर्थ ग्रहण करने में यथार्थ ज्ञान का निषेध नहीं होता[1] ॥ १०६ ॥

प्रत्ययी प्रत्ययश्चैव यदाभासौ तदर्थता ।
तयोरचितिमत्त्वाच्च चैतन्ये कल्प्यते फलम् ॥ १०७ ॥

[यदि कहो कि कूटस्थ होने के कारण आत्मा ज्ञाता नहीं हो सकता; अतः सत् शब्द से आत्मा को ग्रहण करना सम्भव नहीं है, तो ऐसी शंका करनी ठीक नहीं, क्योंकि] प्रत्ययी (अन्तःकरण) और प्रत्यय (उसकी वृत्तियाँ) जिसके आभास हैं उसीके ये शेषभूत भी हैं। अतः इन दोनोंके अचेतन होनेके कारण इस वाक्य का फल (तात्पर्य) चैतन्य आत्मा में ही माना जाता है[2] ॥१०७॥

ज्ञान की उत्पत्ति होगी या नहीं। इससे उसकी अनुत्पत्तिरूपा अप्रामाणिकता भी नहीं हो सकती।

१ तात्पर्य यह है कि 'मैं सत् हूँ' इस वाक्य का मुख्य अर्थ ग्रहण करने में ही इसकी सार्थकता है और संसारदुःख से पीड़ित मुमुक्षु के लिये यही अभीष्ट भी है।

२ क्योंकि जडवस्तु फलस्वरूप अथवा फल का उपादान नहीं हो सकती, अतः अन्तःकरण और चिदाभास में फल सम्भव न होने के कारण निमित्त होनेपर भी उनके अधिष्ठान चेतन आत्मा में ही उसका तात्पर्य समझना चाहिये।

कूटस्थेऽपि फलं योग्यं राजनीव जयादिकम् ।
तदनात्मत्वहेतुभ्यां क्रियायाः प्रत्ययस्य च ॥ १०८ ॥

जिस प्रकार सेना के जय आदि का राजा में आरोप किया जाता है उसी प्रकार अन्तःकरण की अहमात्मिका वृत्ति और चिदाभास अनात्मा (जड) होने के कारण कूटस्थ आत्मा में फल की योजना करनी चाहिये ॥ १०८ ॥

आदर्शस्तु यदाभासो मुखाकारः स एव सः ।
यथैवं प्रत्ययादर्शो यदाभासस्तदा ह्ययम् ॥ १०९ ॥

जिस प्रकार दर्पण जिस [मुख के] आभास से युक्त प्रतीत होता है वही [ग्रीवास्थ] मुख का आकार भी होता है, उसी प्रकार अहंकार जिस चेतन के प्रतिबिम्बद्वारा प्रकाशित है वह परमात्मा ही है। [अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का फल चिदात्मा में होना उचित ही है] ॥ १०९ ॥

इत्येवं प्रतिपत्तिः स्यात्सदस्मीति च नान्यथा ।
तत्त्वमित्युपदेशोऽपि द्वाराभावादनर्थकः ॥ ११० ॥

इस प्रकार [चिदाभास स्वीकार करने पर] ही 'मैं सत्स्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान होना सम्भव है; अन्य किसी प्रकार नहीं। [यदि आभास स्वीकार न किया जाय तो] कोई न रहने के कारण 'तू सत्स्वरूप है' ऐसा उपदेश भी व्यर्थ ही होगा ॥ ११० ॥

श्रोतुः स्यादुपदेशश्चेदर्थवत्त्वं तथा भवेत् ।
अध्यक्षस्य न चेदिष्टं श्रोतृत्वं कस्य तद्भवेत् ॥ १११ ॥

यदि उपदेश श्रोता को किया जायगा तभी उसकी सार्थकता होगी और यदि साक्षी आत्मा का श्रोतृत्व न माना जाय तो वह और किसका हो सकता है ? ॥ १११ ॥

अध्यक्षस्य समीपे स्याद् बुद्धेरेवेति चेन्मतम् ।
न तत्कृतोपकारोऽस्ति काष्ठाद्यद्वन्न कल्प्यते ॥ ११२ ॥

यदि ऐसा मानो कि साक्षी की सन्निधि में बुद्धि का ही श्रोतृत्व हो सकता है

तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार काष्ठादि की सन्निधि से बुद्धि का कोई उपकार नहीं होता उसी प्रकार साक्षी के द्वारा भी नहीं हो सकता ॥ ११२ ॥

बुद्धौ चेत्तत्कृतः कश्चिन्नन्वेवं परिणामिता ।
आभासेऽपि च को दोषः सति श्रुत्याद्यनुग्रहे ॥ ११३ ॥

और यदि ऐसा कहो कि साक्षी के द्वारा बुद्धि में कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार उसका परिणामी होना सिद्ध होता है । ऐसी अवस्था में श्रुति का प्रमाण रहते हुए भी चिदाभास मानने में क्या दोष है ? ॥ ११३ ॥

आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत् ।
सर्पादेश्च तथावोचमादर्शे च मुखत्ववत् ॥ ११४ ॥

यदि कहो कि आभास मानने से भी आत्मा का परिणाम सिद्ध होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह रज्जु आदि के तुल्यत्व से सर्पादि की कल्पना के समान तथा दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान [मिथ्या] बतलाया जा चुका है ॥ ११४ ॥

नात्माभासत्वसिद्धिश्चेदात्मनो ग्रहणात्पृथक् ।
मुखादेश्च पृथक्सिद्धिरिह त्वन्योन्यसंश्रयः ॥ ११५ ॥

यदि शुद्ध आत्मा के ग्रहण से पृथक् आत्मा के आभास की सिद्धि न हो तो उनमें अन्योन्याश्रय दोष हो सकता है; किन्तु यहाँ (दृष्टान्त में) तो दर्पणगत प्रतिबिम्ब से [ग्रीवास्थ] मुखादि की पृथक् सिद्धि है [अतः इनमें अन्योन्याश्रय नहीं हो सकता] ॥ ११५ ॥

अध्यक्षस्य पृथक्सिद्धावाभासस्य तदीयता ।
आभासस्य तदीयत्वे ह्यध्यक्षव्यतिरिक्तता ॥ ११६ ॥

[अब पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रय दोष को स्पष्ट करता है—] साक्षी के पृथक् सिद्ध होनेपर तो आभास का उससे सम्बन्ध है और आभास उसका है, इसलिये साक्षी का पार्थक्य सिद्ध होता है[1] ॥ ११६ ॥

---

1 इस प्रकार अपनी अपनी सिद्धि में एक-दूसरे की अपेक्षा होने के कारण इनमें अन्योन्याश्रय-दोष है ।

नैवं स्वप्ने पृथक्सिद्धः प्रत्ययस्य दृशेस्तथा।
रथादेस्तत्र शून्यत्वात्प्रत्ययस्यात्मना ग्रहः ॥ ११७ ॥

ऐसी बात नहीं है, क्योंकि स्वप्न में भी आत्मा और अन्तःकरण की पृथक् रूप से सिद्धि होती है। तथापि वहाँ रथादि का अभाव होने के कारण रथादि का ज्ञान केवल चैतन्यस्वरूप आत्माद्वारा गृहीत होता है[1] ॥ ११७ ॥

अवगत्या हि संव्याप्तः प्रत्ययो विषयाकृतिः।
जायते स यदाकारः स बाह्यो विषयो मतः ॥ ११८ ॥

अन्तःकरण की विषयाकारा वृत्ति आत्मचैतन्यद्वारा व्याप्त होती है और वह जिस आकारवाली होती है वही बाह्यविषय माना जाता है[2] ॥ ११८ ॥

कर्मेप्सिततमत्वात्स तद्वान्कार्ये नियुज्यते।
आकारो यत्र चार्प्येत करणं तदिहोच्यते ॥ ११९ ॥

वह विषय कर्ता का अत्यन्त इष्ट होने के कारण कर्म कहा जाता है, उसकी इच्छा से युक्त हुआ पुरुष कार्य में नियुक्त होता है तथा जिस बुद्धिवृत्ति में विषय का आकार समर्पित होता है वह करण कहलाता है ॥ ११९ ॥

यदाभासेन संव्याप्तः संज्ञातेति निगद्यते।
त्रयमेतद्विविच्यात्र यो जानाति स आत्मवित् ॥ १२० ॥

[इस प्रकार विषय और करण का निरूपण कर अब कर्ता का वर्णन करते हैं—] जब अन्तःकरण चिदाभास से व्याप्त होता है तो वह ज्ञाता कहा जाता है।

---

१ तात्पर्य यह है कि आत्मा से भिन्न अन्तःकरण तथा उसके विषयादि की सत्ता तो आत्मा के आश्रय है, किन्तु आत्मा की सिद्धि के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। इसलिए इनमें अन्योन्याश्रय-दोष नहीं हो सकता।

२ विषय के स्फुरण में ऐसा क्रम माना गया है कि प्रथम आत्माभास से युक्त बुद्धि की वृत्ति इन्द्रियप्रणालीद्वारा विषयदेश में जाती है। वहाँ वह विषय को व्याप्त करके तदाकार हो जाती है। इस प्रकार वह जिस-जिस विषय का आकार ग्रहण करती है उसी का ज्ञान आत्मचैतन्यद्वारा प्रकाशित होता है।

इन [ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय] तीनों का विवेचन करके जो [साक्षी आत्मा को] जानता है, वही आत्मवेत्ता है ॥ १२० ॥

सम्यक्संशयमिथ्योक्ताः प्रत्यया व्यभिचारिणः ।
एकैवावगतिस्तेषु भेदस्तु प्रत्ययार्पितः ॥ १२१ ॥

[अब विवेक का प्रकार बतलाते हैं—] सम्यक् (यथार्थ), संशयरूप और मिथ्या कहलाने वाले प्रत्यय व्यभिचारी (आगमापायी) हैं। उनमें ज्ञान एकरूप ही है, भेद केवल प्रत्ययों का किया हुआ है ॥ १२१ ॥

आधिभेदाद्यथा भेदो मणेरवगतेस्तथा ।
अशुद्धिः परिणामश्च सर्वं प्रत्ययसंश्रयात् ॥ १२२ ॥

जिस प्रकार [जपाकुसुम आदि] उपाधियों के भेद से मणि में भेद प्रतीत होता है उसी प्रकार समस्त अशुद्धि और परिणाम प्रत्यय (अहंकार एवं चिदाभास) के सम्बन्ध के कारण हैं ॥ १२२ ॥

प्रथनं ग्रहणं सिद्धिः प्रत्ययानामिहान्यतः ।
आपरोक्ष्यात्तदेवोक्तमनुमानं प्रदीपवत् ॥ १२३ ॥

व्यवहारकाल में प्रत्ययों की स्फूर्ति, ग्रहण और स्थिति किसी अन्य अपरोक्षस्वभाव वस्तु के कारण हैं। इस विषय में दीपक के समान यही अनुमान प्रमाण कहा गया है[1] ॥ १२३ ॥

किमन्यद्ग्राहयेत्कश्चित्प्रमाणेन तु केनचित् ।
विनैव तु प्रमाणेन निवृत्त्यान्यस्य शेषतः ॥ १२४ ॥

[इस प्रकार अनुमान प्रमाणद्वारा विधिमुख से आत्मा की सिद्धि करके अब उन लोगों के मत का निराकरण करने के लिये विकल्प करते हैं जो ऐसा

१ जिस प्रकार घट-पटादि पदार्थ दीपकादि के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार जड़ होने के कारण बुद्धि की वृत्तियाँ भी किसी स्वयंप्रकाश वस्तु से प्रकाशित होनी चाहिये। जिससे वे प्रकाशित होती हैं वही स्वयंप्रकाश आत्मा है; समस्त प्रत्यय उसी में अध्यस्त हैं और उन्हीं के अधीन उनकी सत्ता भी है।

मानते हैं कि आत्मा की सिद्धि केवल निषेधमुख प्रमाण से ही होती है। यहाँ यह बतलाना चाहिए कि] वह वादी अन्य अनात्मपदार्थों का निषेध करके अवशिष्टरूप से आत्मा का ग्रहण किसी प्रमाण के द्वारा कराता है, या बिना किसी प्रमाण के ही? ॥ १२४ ॥

शब्देनैव प्रमाणेन निवृत्तिश्चेदिहोच्यते।
अध्यक्षस्याप्रसिद्धत्वाच्छून्यतैव प्रसज्यते ॥ १२५ ॥

यदि इस प्रसंग में केवल शब्दप्रमाण से ही अनात्मवस्तु का निषेध करना बतलाया जाता है तो साक्षी की प्रसिद्धि न होने के कारण शून्यता का ही प्रसंग उपस्थित हो जाता है ॥ १२५ ॥

चेतनस्त्वं कथं देह इति चेन्नाप्रसिद्धितः।
चेतनस्यान्यतः सिद्धावेवं स्यादन्यहानतः ॥ १२६ ॥

[चेतन और अचेतन विरुद्धस्वभाववाले हैं, अतः यदि तुम ऐसा समझते हो कि अचेतन का बाध होने पर उससे विपरीतस्वभाववाला चेतन अवशिष्ट रह जाता है और इस प्रकार शून्यता का प्रसंग उपस्थित नहीं होता—तो इस शंका की निवृत्ति के लिये कहा जाता है कि] यदि तुम ऐसा कहो कि तुम चेतन आत्मतत्त्व अचेतन देहादि कैसे हो सकते हो, तो [चेतन की किसी अन्य प्रमाण से] सिद्ध न होने के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी अन्य प्रमाण के द्वारा चेतन की सिद्धि होने पर तो अन्य (अचेतन) के बाध द्वारा ऐसा हो सकता है। [अर्थात् यदि शब्द से भिन्न किसी अन्य प्रमाण द्वारा चेतन की सत्ता सिद्ध हो जाय तब तो यह सम्भव है कि देहादि अचेतन वस्तुओं का बाध करने पर अवशिष्टरूप से आत्मा का अनुभव हो जाय]॥ १२६॥

अध्यक्षः स्वयमस्त्येव चेतनस्यापरोक्षतः।
तुल्य एवं प्रबोधः स्यादन्यस्यासत्त्ववादिना ॥ १२७ ॥

[पूर्व०—] किन्तु चेतन अपरोक्ष होने के कारण साक्षी तो स्वयंसिद्ध ही है। [सिद्धान्ती—] इस प्रकार का ज्ञान तो आत्मा को शून्यरूप मानने वाले बौद्धों के पक्ष में भी ऐसा ही है। [अर्थात् वे भी शून्य को स्वतःसिद्ध ही मानते हैं] ॥ १२७ ॥

अहमज्ञासिषं चेदमिति लोकस्मृतेरिह ।
करणं कर्म कर्ता च सिद्धास्त्वेकक्षणे किल ॥ १२८ ॥

पूर्व०—'मैं इसे जानता था' इस लोकस्मृति से व्यवहार में करण, कर्म और कर्ता की एक साथ एक क्षण में ही सिद्धि हो जाती है[1] ॥१२८॥

प्रामाण्येऽपि स्मृतेः शैघ्र्याद्यौगपद्यं विभाव्यते ।
क्रमेण ग्रहणं पूर्वं स्मृतेः पश्चात्तथैव च ॥ १२९ ॥

सिद्धान्ती—स्मृति की प्रामाणिकता होने पर भी कर्तादि का एक साथ अनुभव होना तो शीघ्रता के ही कारण माना जाता है। जिस प्रकार स्मृति से पूर्व उनका क्रमशः ग्रहण होता था उसी प्रकार उसके पश्चात् भी होगा[2] ॥१२९॥

अज्ञासिषमिदं मां चेत्यपेक्षा जायते ध्रुवम् ।
विशेषोऽपेक्ष्यते यत्र तत्र नैवैककालता ॥ १३० ॥

[इनकी एककालिकता के अभाव में एक दूसरा कारण बतलाते हैं—] 'मैंने इसे और अपने को जाना' इस प्रकार के ज्ञान में निश्चय ही पौर्वापर्य की अपेक्षा है[3]। वस्तुतः जहाँ विशेष की अपेक्षा होती है वहाँ एककालिकता नहीं हो सकती ॥ १३० ॥

---

१ स्मृति बिना अनुभूत विषय के नहीं होती, और लोक में ऐसी स्मृति देखी जाती है कि 'मैं अमुक विषय को जानता था'। इस स्मृति में कर्ता कर्म और करण की प्रतीति होती ही है। अतः इसी से प्रमाता चेतन [यानी आत्मा] की सिद्धि हो जाती है—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन है।

२ कर्ता जीव आन्तरिक वस्तु है तथा उसकी क्रिया का कर्मभूत विषय बाह्य होता है। इसलिये उनका एक ही क्षण में एक साथ अनुभव होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार अनुभव के समय उनमें क्रम रहता है उसी प्रकार स्मृति के समय भी उनमें क्रम रहता है; किन्तु शीघ्रता के कारण उसका अनुभव नहीं होता।

३ क्योंकि 'यह' इदंवृत्ति का विषय है और 'अपना आप' अहंवृत्ति का इसलिये उन दोनों का ज्ञान एक ही क्षण में एक साथ नहीं हो सकता।

आत्मनो ग्रहणे चापि त्रयाणामिह संभवात् ।
आत्मन्यासक्तकर्तृत्वं न स्यात्करणकर्मणोः ॥ १३१ ॥

विषयग्रहण के समान आत्मा (प्रमाता) तथा प्रमेय और प्रमा के ग्रहण में भी कर्ता, कर्म और करण तीनों की अपेक्षा है। किन्तु आत्मा में चरितार्थ होने वाला कर्तृत्व करण और कर्म की सिद्धि में कारण नहीं हो सकता[1] ॥ १३१ ॥

व्याप्तुमिष्टं च यत्कर्तुः क्रियया कर्म तत्स्मृतम् ।
अतो हि कर्तृतन्त्रत्वं तस्येष्टं नान्यतन्त्रता ॥ १३२ ॥

जो कर्ता की क्रियाद्वारा व्याप्त करने के लिये इष्ट होता है वह 'कर्म' कहलाता है। अतः उसका कर्ता के अधीन होना इष्ट है, किसी अन्य के अधीन होना नहीं ॥ १३२ ॥

शब्दाद्वानुमितेर्वापि प्रमाणाद्वा ततोऽन्यतः ।
सिद्धिः सर्वपदार्थानां स्यादज्ञं प्रति नान्यथा ॥ १३३ ॥

[अतः आत्मतत्त्व की सिद्धि विधिरूप से प्रवृत्त शब्दप्रमाण अथवा अनुमान से ही होनी उचित है, क्योंकि] समस्त पदार्थों की सिद्धि शब्द अथवा अनुमान प्रमाण से ही होती है। इनसे भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तो अज्ञानियों के प्रति पदार्थों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ १३३ ॥

अध्यक्षस्यापि सिद्धिः स्यात्प्रमाणेन विनैव वा ।
विना स्वस्य प्रसिद्धिस्तु नाज्ञं प्रत्युपयुज्यते ॥ १३४ ॥

अज्ञानी के प्रति साक्षी की सिद्धि भी किसी प्रमाण से ही होगी अथवा विना

---

१ जो क्रियासाधन में स्वतन्त्र होता है उसे कर्ता कहते हैं। वही सब कारकों का प्रयोक्ता होता है। अतः उसकी सत्ता पहले होनी चाहिये, उसके पीछे अन्य कारकों की सत्ता रहेगी। अतः कर्ता कर्म और करण इनकी सत्ता एकसाथ सिद्ध नहीं हो सकती, उसमें क्रम रहना आवश्यक है।

प्रमाण के भी हो जायगी ? किन्तु बिना प्रमाण के हुई आत्मा की सिद्धि अज्ञानी के लिये उपयोगी नहीं है[1] ॥ १३४ ॥

तस्यैवाज्ञत्वमिष्टं चेज्ज्ञानत्वेऽन्या मतिर्भवेत् ।
अन्यस्यैवाज्ञतायां च तद्विज्ञाने ध्रुवा भवेत् ॥ १३५ ॥

यदि [ज्ञानस्वरूप] आत्मा का जडत्व अभिमत हो तो उसके चेतनत्व के विषय में किसी अन्य (प्रमाणजनित) मति की अपेक्षा हो सकती है। किन्तु जडता तो अन्य अहंकारादि की ही होने के कारण उस आत्मतत्त्व के विज्ञान में [शास्त्रप्रमाण से ही] निश्चित बुद्धि हो जायगी ॥ १३५ ॥

ज्ञातता स्वात्मलाभो वा सिद्धिः स्यादन्यदेव वा ।
ज्ञातत्वेऽनन्तरोक्तौ त्वं पक्षौ संस्मर्तुमर्हसि ॥ १३६ ॥

[साक्षी सिद्धस्वरूप है, उसकी सिद्धि के लिये किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। अतः 'सिद्धि' शब्द से क्या अभिप्रेत है, सो बतलाते हैं—]'सिद्धि' शब्द का अर्थ ज्ञान है, या स्वरूपलाभ, अथवा कोई और वस्तु ? यदि उसका तात्पर्य ज्ञान में हो तो पूर्वश्लोक में कहे हुए दोनों पक्षों को स्मरण रखना चाहिये ॥ १३६ ॥

सिद्धिः स्यात्स्वात्मलाभश्चेद्यत्नस्तत्र निरर्थकः ।
सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्स्वहेतुभ्यस्तु वस्तुनः ॥ १३७ ॥

और यदि स्वात्मलाभ का नाम सिद्धि है तो उसके लिये कोई प्रयत्न करना व्यर्थ है, क्योंकि वस्तु का अपने कारण से होना तो सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध है ॥ १३७ ॥

---

१ यदि कोई कहे कि आत्मा स्वयंप्रकाश है; अतः प्रमाण के बिना भी उसकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि प्रमाण के अधीन तो केवल जड वस्तुओं की ही सिद्धि है—तो इस विषय में हमें यह कहना है कि स्वरूपभूत चैतन्य प्रमाण के बिना ही सिद्ध होने पर भी उसके साक्षित्व की सिद्धि तो प्रमाणाधीन ही है।

ज्ञानज्ञेयादिवादेऽतः सिद्धिर्ज्ञातत्वमुच्यते ।
अध्यक्ष्याध्यक्षयोः सिद्धिर्ज्ञेयत्वं नात्मलाभता ॥ १३८ ॥

अतः जिस मत में ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता का विचार है उसमें ज्ञातत्व को ही सिद्धि कहा जाता है । अतः साक्ष्य और साक्षी का ज्ञेयत्व ही उनकी सिद्धि है, स्वरूपलाभ नहीं । [तात्पर्य यह है कि जड हो अथवा चेतन, उसकी स्थिति का नाम 'सिद्धि' नहीं है, बल्कि प्रमाणद्वारा प्रमाता का विषय होना ही उनकी सिद्धि है] ॥ १३८ ॥

स्पष्टत्वं कर्मकर्त्रादेः सिद्धिता यदि कल्प्यते ।
स्पष्टताऽस्पष्टते स्यातामन्यस्यैव न चात्मनः ॥ १३९ ॥

[ज्ञातता एवं स्वरूपलाभ के सिवा भट्टमतानुसार स्पष्टता को भी सिद्धि कहते हैं—इसका निराकरण करने के लिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं—] यदि कर्ता या कर्मादि की स्पष्टता को सिद्धि माना जाय तो वे स्पष्टता-अस्पष्टता तो अन्य (जड पदार्थों) के ही हो सकते हैं—आत्मा के नहीं ॥१३९॥

अद्रष्टुर्नैव चान्धस्य स्पष्टीभावो घटस्य तु ।
कर्त्रादेः स्पष्टतेष्टा चेद् द्रष्टृताऽध्यक्षकर्तृका ॥ १४० ॥

दर्शनशक्तिशून्य अन्धे पुरुष के प्रति घट की स्पष्टता नहीं हो सकती । अतः यदि कर्तादि की स्पष्टता इष्ट हो तो द्रष्टृत्व को [कर्तृत्वादिशून्य] साक्षी का कार्य मानना होगा ॥ १४० ॥

अनुभूतेः किमन्यस्मिन्स्यात्तवापेक्षया वद ।
अनुभवितरीष्टा स्यात्सोऽप्यनुभूतिरेव नः ॥ १४१ ॥

[इस पर विज्ञानवादी बौद्ध कहता है-] अनुभूति के विषय में [कर्तादि] किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा मानने से तुझे क्या फल प्राप्त होगा—सो बतला । यदि तुझे अनुभविता में ही अनुभूति अभीष्ट है तो हमारे सिद्धान्तानुसार तो वह भी अनुभवरूप ही है ॥ १४१ ॥

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ १४२ ॥

[तो फिर अनुभूति अनुभविता और अनुभाव्य--ये भेद किस प्रकार हैं--ऐसी शंका होने पर वह कहता है--] यद्यपि विज्ञानात्मा अभिन्न ही है तथापि जिनकी दृष्टि विपरीत है उन पुरुषों को वह ग्राह्य ग्राहक और ग्रहणरूप से भेदवान्-सा दिखायी देता है ॥ १४२ ॥

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ।
सत्त्वं नाशित्वमस्याश्चेत्सकर्तृत्वं तथेष्यताम् ॥ १४३ ॥

[अब सिद्धान्ती इस मत का खण्डन करता है--] जिनके मत में जो अनुभूति है वही क्रिया भी है और वही कारक भी कही जाती है उनके सिद्धान्तानुसार यदि उसके सत्ता और विनाश हैं तो उसी प्रकार उसका सकर्तृत्व भी स्वीकार करो ॥ १४३ ॥

न कश्चिच्चेष्यते धर्म इति चेत्पक्षहानता ।
नन्वस्तित्वादयो धर्मा नास्तित्वादिनिवृत्तयः ।
न भूतेस्तर्हि नाशित्वं स्वालक्षण्यं मतं हि ते ॥ १४४ ॥

और यदि उसका कोई धर्म अभिमत नहीं है तो तुम्हारा पक्ष गिर जाता है। [बौद्ध--] किन्तु अस्तित्वादि धर्म तो नास्तित्वादि की निवृत्तिमात्र ही हैं। [सिद्धान्ती--] तब तो तुम्हारे सिद्धान्तानुसार क्षणिकत्वादि अनुभूति के लक्षण सिद्ध नहीं होते ॥ १४४ ॥

स्वलक्षणावधिर्नाशो नाशोऽनाशनिवृत्तिता ।
अगोरसत्त्वं गोत्वं ते ननु तद्गोत्वलक्षणम् ॥ १४५ ॥

स्वरूप ही जिसका प्रमाण है वह स्वलक्षण जिसकी अवधि है उसे 'नाश' कहते हैं। [1]किन्तु तुम्हारे मतानुसार अनाश की निवृत्ति ही नाश है तथा गोत्व

---

१ नष्ट होने वाला कार्य बिना अपनी अवधि के नष्ट नहीं होता। क्योंकि 'अमुक वस्तु अब नहीं है, नष्ट हो गयी है' इस प्रकार नाश के विषय में व्यवहार किया जाता है, इसलिए विनाश का अवधिभूत कोई अविनाशी, अनुत्पन्न एवं स्वतःसिद्ध पदार्थ मानना ही होगा। इसी से कहा है कि स्वलक्षण ही है अवधि जिसकी उसे 'नाश' कहते हैं।

से भिन्न [अश्वत्वादि] का अभाव ही गोत्व है, गौ के लक्षणों से युक्त होना नहीं ॥ १४५ ॥

क्षणवाच्योऽपि योऽर्थः स्यात्सोऽप्यन्याभाव एव ते ॥१४६॥

तथा जो पदार्थ 'क्षण' शब्द का वाच्य है वह भी तुम्हारे मतानुसार अक्षण का अभाव ही है ॥ १४६ ॥

भेदाभावेऽप्यभावस्य भेदो नामभिरिष्यते ।
नामभेदैरनेकत्वमेकस्य स्यात्कथं तव ॥ १४७ ॥

बौद्ध—अभाव में भेद का अभाव होने पर भी नामों के कारण उसका भेद माना जाता है । किन्तु तुम्हारे विचार से नामभेद के कारण एक ही वस्तु का अनेकत्व कैसे हो सकता है ? ॥ १४७ ॥

अपोहो यदि भिन्नानां वृत्तिस्तस्य कथं गवि ।
नाभावा भेदकाः सर्वे विशेषा वा कथंचन ॥ १४८ ॥

[इसके सिवा 'अपोह' शब्द का अर्थ भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति है या अभिन्नों की ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि] यदि भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति का नाम अपोह है तो उस (अगोत्वाभाव) की गोव्यक्ति में किस प्रकार वृत्ति हो सकती है ? और [यदि अभिन्न वस्तु की व्यावृत्ति ही अपोह है तो] सभी अभाव किसी प्रकार भी भेदक (व्यावृत्तिबुद्धिजनक) अथवा विशेष (भावरूप) नहीं हो सकते[1] ॥ १४८ ॥

---

१ ऊपर १४५ वे श्लोक में यह कहा गया है कि यदि किसी शब्द का अर्थ उसके प्रतियोगी का अभाव ही है तो 'गो' शब्द से अगोत्व का अभाव ही समझना चाहिए। उसी के विषय में विकल्प करते हैं कि 'गो' शब्द से भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति होती है तो अगणित प्रतियोगी होने के कारण अगोत्वाभाव की वृत्ति गो व्यक्ति में नहीं हो सकती और यदि अश्वत्वादिरूप किसी अभिन्न वस्तु की व्यावृत्ति ही अगोत्वाभाव है तो भेद्य और भेदक का भेद निश्चित न होने के कारण उससे तो उनसे न तो गौ के साथ अन्योन्याभावरूप बुद्धि की ही उत्पत्ति हो सकती है और न वे किसी भावरूप पदार्थ के ही बोधक हो सकते हैं।

नामजात्यादयो यद्वत्संविदस्तेऽविशेषतः ॥ १४६ ॥

जिस प्रकार निर्विशेष होने के कारण तुम्हारे मत में नाम एवं जाति आदि विज्ञान के विशेषण नहीं हो सकते [उसी प्रकार अगोत्वाभाव अथवा खण्ड-मुण्डादि गो आदि के विशेषण नहीं हैं] ॥ १४६ ॥

प्रत्यक्षमनुमानं वा व्यवहारे यदीच्छसि ।
क्रियाकारकभेदैस्तदभ्युपेयं ध्रुवं भवेत् ॥ १५० ॥

सिद्धान्ती—यदि तुम लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण स्वीकार करोगे तो तुम्हें निश्चय ही उन्हें क्रिया-कारकरूप भेद के सहित मानना होगा[1] ॥ १५० ॥

तस्मान्नीलं तथा पीतं घटादिर्वा विशेषणम् ।
संविदस्तदुपेयं स्याद्येन चाप्यनुभूयते ॥ १५१ ॥

अतः तुम्हें नील, पीत एवं घटादि को विज्ञान का विशेषण स्वीकार करना होगा और जिसके द्वारा उनका अनुभव होता है वह ज्ञाता भी स्वीकार करना होगा ॥ १५१ ॥

रूपादीनां यथान्यः स्याद्ग्राह्यत्वाद्ग्राहकस्तथा ।
प्रत्ययस्तत्तथान्यः स्याद्व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ॥ १५२ ॥

रूपादि का ग्राह्यत्व होने के कारण जिस प्रकार उनका कोई अन्य ग्राहक होता है तथा प्रत्यय का ग्राह्यत्व होने के कारण उसका अन्य ग्राहक होता है उसी प्रकार दीपक के समान प्रकाशक होने के कारण तुम्हें ग्राहक की सत्ता ग्राह्यवर्ग से भिन्न स्वीकार करनी पड़ेगी ॥ १५२ ॥

---

1 बौद्धगण प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकार करते हैं, पर क्रिया और कारकरूप भेद नहीं मानते। किन्तु इन दोनों प्रमाणों द्वारा तो क्रिया कारकरूप भेद का ही ज्ञान होता है। अतः उनका यह कथन ठीक नहीं कि ज्ञान में क्रिया-कारकरूप भेद नहीं है।

अध्यक्षस्य दृशेः कीदृक्संबन्धः संभविष्यति ।
अध्यक्षेण तु दृश्येन मुक्त्वाऽन्यो द्रष्टृदृश्यताम् ॥ १५३ ॥
अध्यक्षेण कृता दृष्टिर्दृश्यं व्याप्नोत्यथापि वा ।
नित्याध्यक्षकृतः कश्चिदुपकारो भवेद्धियाम् ॥ १५४ ॥

[अब साक्षी और प्रत्ययवर्ग का सम्बन्ध बतलाने के लिये आचार्य कहते हैं कि] साक्षीसम्बन्धी प्रत्ययवर्ग के साथ द्रष्टा आत्मा का द्रष्टृदृश्यत्वरूप सम्बन्ध को छोड़कर और क्या सम्बन्ध हो सकता है ? द्रष्टा की दृष्टि दृश्य को व्याप्त करती है या नहीं ? [1]नित्यसाक्षी के द्वारा बुद्धि का कोई उपकार तो होना ही चाहिये ॥ १५३–१५४ ॥

स चोक्तस्तन्निभत्वं प्राक्संव्याप्तिश्च घटादिषु ।
यथाऽऽलोकादिसंव्याप्तिर्व्यञ्जकत्वाद्धियस्तथा ॥ १५५ ॥

उस (साक्षीकृत बुद्धि के उपकार) का पहले मुखाभास के दृष्टान्तद्वारा वर्णन किया जा चुका है । तथा जिस प्रकार घटादि में प्रकाशादि की व्याप्ति होती है उसी प्रकार अभिव्यञ्जक होने के कारण उनमें बुद्धि की भी व्याप्ति होती है ॥ १५५ ॥

आलोकस्थो घटो यद्वद् बुद्ध्यारूढो भवेत्तथा ।
धीव्याप्तिः स्याद्घटारोहो धियो व्याप्तौ क्रमो भवेत् ॥१५६॥

जिस प्रकार प्रकाशस्थित घट बुद्धि में आरूढ होता है उसी प्रकार बुद्धिनिष्ठ घट बुद्धि में आरूढ होता है । बुद्धि द्वारा घट की व्याप्ति ही घटारोह है । किन्तु बुद्धि की व्याप्ति में क्रम रहा करता है [और आत्मव्याप्ति में कोई क्रम नहीं होता] ॥ १५६ ॥

पूर्वं स्यात्प्रत्ययव्याप्तिस्ततोऽनुग्रह आत्मनः ।
कृत्स्नाध्यक्षस्य नो युक्तः कालाकाशादिवत्क्रमः ॥ १५७ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि साक्ष्य के साथ साक्षी का सम्बन्ध पारमार्थिक है या अपारमार्थिक ? इस विकल्प में आचार्य दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं ।

पहले विषय में बुद्धि की व्याप्ति होती है और उसके पश्चात् आत्मा का अनुग्रह होता है। किन्तु काल और आकाशादि के समान व्यापक आत्मा की व्याप्ति में कोई क्रम नहीं है ॥ १५७ ॥

विषयग्रहणं यस्य कारणापेक्षया भवेत् ।
सत्येव ग्राह्यशेषे च परिणामी स चित्तवत् ॥ १५८ ॥

[किन्तु बुद्धि की भाँति आत्मा परिणामी नहीं है, क्योंकि] ग्राह्यविषय के अवशिष्ट रहते हुए जिसे कारक की अपेक्षा से विषय का ग्रहण होता है वह पदार्थ चित्त के समान परिणामी होता है ॥ १५८ ॥

अध्यक्षोऽहमिति ज्ञानं बुद्धेरेव विनिश्चयः ।
नाध्यक्षस्याविशेषत्वान्न तस्यास्ति परो यतः ॥ १५९ ॥

'मैं साक्षी हूँ' यह ज्ञान [चिदाभासविशिष्ट] बुद्धि का ही निश्चय है, साक्षी का नहीं, क्योंकि वह निर्विशेष है और उससे भिन्न उसका कोई द्रष्टा भी नहीं है ॥ १५९ ॥

कर्त्रा चेदहमित्येवमनुभूयेत मुक्तता ।
सुखदुःखविनिर्मोक्षो नाहंकर्तरि युज्यते ॥ १६० ॥

[इस प्रकार यद्यपि ज्ञानाकार परिणाम अन्तःकरण ही का होता है, तथापि उसे उसका सुखदुःखनिवृत्तिरूप फल प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा को ही होता है। इसी आशय से कहते हैं—] यदि कर्ता 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा मानकर मुक्तता का अनुभव कर सकता हो तो अहंकारातीत आत्मामें सुख दुःख की निवृत्ति नहीं रहनी चाहिए थी। [क्योंकि मुक्त होने पर तो क्रिया के सहित कर्ता भी नहीं रहता, इसलिये उसे उसके फल की प्राप्ति नहीं हो सकती] ॥१६०॥

बाध्यते प्रत्ययेनेह विवेकेनाविवेकवान् ।
देहाद्यभिमानोत्थो दुःखीति प्रत्ययो ध्रुवम् ।
कुण्डलीप्रत्ययो यद्वत्प्रत्यगात्माभिमानिना ॥ १६१ ॥

प्रत्यगात्मा में अभिमान रखने वाले पुरुष का जैसे 'मैं कुण्डलवाला हूँ' यह प्रत्यय बाधित हो जाता है[1] उसी प्रकार विवेकज्ञान के द्वारा उसका 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा देहाभिमानजनित अविवेकमय प्रत्यय भी निश्चय ही बाधित हो जाता है ॥ १६१ ॥

विपर्यासेऽसदन्तं स्यात्प्रमाणस्याप्रमाणतः ॥ १६२ ॥

[यदि विवेकज्ञान से अविवेक की निवृत्ति होती है तो अविवेक द्वारा विवेक का भी नाश हो सकता है—ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि] इससे विपरीत अवस्था में प्रमाण का अप्रामाण्य हो जाने के कारण सब कुछ शून्यमय हो जायगा । [इसलिए अविवेक से विवेक की निवृत्ति नहीं होती] ॥ १६२ ॥

दाहच्छेदविनाशेषु दुःखित्वं नान्यथाऽऽत्मनः ।
नैव ह्यन्यस्य दाहादावन्यो दुःखी भवेत्क्वचित् ॥ १६३ ॥

[देहाभिमान के कारण अनुभव होने वाले] दाह, छेदन और मरण में [अविवेक के सिवा] और किसी प्रकार आत्मा का दुःखी होना सम्भव नहीं है । अन्य के दाहादि में कोई अन्य कभी दुःखी नहीं हो सकता ॥ १६३ ॥

अस्पर्शत्वाददेहत्वान्नाहं दाह्यो यतः सदा ।
तस्मान्मिथ्याभिमानोत्थं मृते पुत्रे मृतिर्यथा ॥ १६४ ॥

क्योंकि अस्पृश्य और अदेह होने के कारण मैं कभी दाह्य नहीं हूँ, इसलिये पुत्र के मरने पर अपने मरण के समान यह [दाहजनित दुःख] मिथ्याभिमान के ही कारण है ॥ १६४ ॥

कुण्डल्यहमिति ह्येतद्बाध्यतैव विवेकिना ।
दुःखीति प्रत्ययस्तद्वत्केवलाहंधिया सह ॥ १६५ ॥

जिस प्रकार विवेकी पुरुष 'मैं कुण्डलवान् हूँ' इस ज्ञान का बाध कर देता

---

[1] कुण्डल का सम्बन्ध तो स्थूल शरीर से ही होता है, अतः स्थूल शरीर से अपना पार्थक्यज्ञान हो जाने पर वह उसे अपने से सम्बन्धित नहीं मानता ।

है, उसी प्रकार शुद्धब्रह्म में अहंबुद्धि के सहित 'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान भी बाधित हो जाता है ॥ १६५ ॥

सिद्धे दुःखित्व इष्टं स्यात्तच्छक्तिश्छन्दसाऽऽत्मनः ।
मिथ्याभिमानतो दुःखी तेनार्थापादनक्षमः ॥ १६६ ॥

आत्मा का दुःखित्व सिद्ध होने पर इच्छानुसार उसकी दुःखित्व शक्ति भी इष्ट हो सकती है। वह तो मिथ्या अभिमान के कारण ही दुःखी है और उसी से वह दुःखित्वशक्ति सम्पादन करने में समर्थ है ॥ १६६ ॥

अस्पर्शोऽपि यथा स्पर्शमचलश्चलनादि च ।
अविवेकात्तथा दुःखं मानसं चात्मनीक्षते ॥ १६७ ॥

जिस प्रकार अविवेकवश आत्मा स्पर्शशून्य होने पर भी अपने को स्पर्शयुक्त तथा अचल होने पर भी चलनादिधर्मविशिष्ट देखता है उसी प्रकार मन में होने वाले दुःख को अपने में देखता है ॥ १६७ ॥

विवेकात्मधिया दुःखं नुद्यते चलनादिवत् ।
अविवेकस्वभावेन मनो गच्छत्यनिच्छतः ॥ १६८ ॥

जिस प्रकार [स्थूल देह से आत्मा का पार्थक्यज्ञान होने पर] आत्मा में चलनादि की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार विवेकरूप आत्मज्ञानद्वारा [सूक्ष्म-देह के धर्म] दुःख का भी निरास हो जाता है। मनुष्य की इच्छा न होने पर भी उसका मन अविवेक के वशीभूत होकर ही इधर-उधर भटका करता है ॥ १६८ ॥

तदानुदृश्यते दुःखं नैश्चल्ये नैव तस्य तत् ।
प्रत्यगात्मनि तस्मात्तद् दुःखं नैवोपपद्यते ॥ १६९ ॥

तब [विवेक के द्वारा] मन की निश्चलता होने पर वह दुःख आत्मा का दिखायी नहीं देता। अतः उस दुःख का प्रत्यगात्मा में होना सम्भव नहीं है ॥ १६९ ॥

त्वंसतोस्तुल्यनीडत्वान्नीलाश्ववदिदं भवेत् ॥ १७० ॥

त्वं और सत्—ये पद एक ही अर्थ में अन्वित होने वाले हैं, अतः [तत्त्वमसि] यह वाक्य नील अश्व के समान है[1] ॥ १७० ॥

निर्दुःखवाचिना योगात्त्वंशब्दस्य तदर्थता ।
प्रत्यगात्माभिधानेन तच्छब्दस्य युतेस्तथा ॥ १७१ ॥

त्वं पद का निर्दुःखवाचक सत् शब्द से सामानाधिकरण्य है, अतः उसका अर्थ 'सत्' है । तथा प्रत्यगात्मा के वाचक त्वं पद से तत्पद का सामानाधिकरण्य होने के कारण उसका अपरोक्षत्व सिद्ध होता है ॥ १७१ ॥

दशमस्त्वमसीत्येवं वाक्यं स्यात्प्रत्यगात्मनि ॥ १७२ ॥

अतः 'दशम तू है' इस वाक्य के समान [तत्त्वमसि] इस वाक्य का तात्पर्य प्रत्यगात्मा में है[2] ॥ १७२ ॥

स्वार्थस्य ह्यप्रहाणेन विशिष्टार्थसमर्पकौ ।
प्रत्यगात्मावगत्यन्तौ नान्योऽर्थोऽर्थाद्विरोध्यतः ॥ १७३ ॥

---

१ यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि 'नील अश्व' इसमें नील गुण है और अश्व गुणी; तथा इन दोनों का संसर्ग इसका अर्थ है । किन्तु 'तत्त्वमसि' में तत् और त्वं पद की अखण्डार्थता ही वाक्यार्थ है । अतः यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यद्यपि इस दृष्टि से इनकी समानता नहीं है; तथापि सामानाधिकरण्य में तो तुल्यता है ही ।

२ एक बार दस मनुष्य विदेश जा रहे थे । मार्ग में एक नदी पड़ी । उसके पार पहुँचकर उन्होंने यह जानने के लिये कि कोई बह तो नहीं गया-आपस में गिनना आरम्भ किया । उनमें से प्रत्येक अपने को छोड़कर शेष नौ को गिन जाता था । अतः यह समझकर कि एक मनुष्य बह गया है वे शोक करने लगे । इसी समय वहाँ एक बुद्धिमान् पुरुष आया । उसने सब समाचार जानकर पहले तो यह बतलाकर कि 'दशम है' उन्हें शान्त किया और फिर गिनकर यह भी दिखा दिया कि वह दशम स्वयं गणना करनेवाला ही है । अतः जिस प्रकार 'दशम तू है' इस वाक्य का तात्पर्य स्वयं गणना करने वाले में ही है इसी प्रकार 'तू ब्रह्म है' इस वाक्य का तात्पर्य भी प्रत्यगात्मा में ही है ।

[यदि तत् और त्वं पद का एक ही अर्थ में पर्यवसान होता है तो घट-कलशादि के समान ये पर्यायवाची होने चाहिए. अतः इनका एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता—ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि] अपने वाच्यार्थ का त्याग न करने से तो ये विशिष्ट अर्थ के द्योतक होते हैं। किन्तु अन्त में इनका तात्पर्य प्रत्यगात्मा में ही है। अतः इस अखण्डार्थ का विरोधी कोई अन्य अर्थ वेदान्तों में प्रतिपादित नहीं है[1] ॥ १७३ ॥

नवबुद्ध्यपहाराद्धि स्वात्मानं दशपूरणम् ।
अपश्यञ्ज्ञातुमेवेच्छेत्स्वमात्मानं जनस्तथा ॥ १७४ ॥

'हम नौ मनुष्य हैं' इस बुद्धि के भ्रम से [यथार्थ ज्ञान का तिरोधान हो जाने से] दशम संख्या की पूर्ति करने वाले अपने-आपको न जानने के कारण मनुष्य उसे जानना चाहता है ॥ १७४ ॥

अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात्कामापहृतधीः सदा ।
विविक्तं दृशिमात्मानं नेक्षते दशमं यथा ॥ १७५ ॥

जिस प्रकार अपने को भूल जाने के कारण दशम पुरुष का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार अविद्या से ज्ञानदृष्टि का निरोध हो जाने के कारण जिसकी बुद्धि कामनाओं के कारण कुण्ठित हो रही है वह पुरुष दृश्यवर्ग से पृथग्भूत ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता ॥ १७५ ॥

दशमस्त्वमसीत्येवं तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ।
स्वमात्मानं विजानाति कृत्स्नान्तःकरणेक्षणम् ॥ १७६ ॥

'दशम तू है' इस वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से पुरुष सम्पूर्ण अन्तःकरण के साक्षी आत्मा को जान लेता है ॥ १७६ ॥

१ त्वंपद का वाच्य जीव प्रत्यक्ष और अल्पज्ञ है तथा तत्पदवाच्य ईश्वर परोक्ष और सर्वज्ञ है। उनके इन विशेष गुणों का बाध करने पर शुद्ध चेतन रह जाता है। यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अखण्ड अर्थ है।

इदं पूर्वमिदं पश्चात्पदं वाक्यं भवेदिति ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ततो वाक्यार्थबोधनम् ॥ १७७ ॥

'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में] यह (त्वम् अहम् आदि) पद पहले और यह (तत् ब्रह्म प्रभृति) पद पीछे रहने से वाक्य बनता है । इसलिए फिर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है[1] ॥१७७॥

वाक्ये हि श्रूयमाणानां पदानामर्थसंस्मृतिः ।
नियमो नैव वेदेऽस्ति पदसांगत्यमर्थतः ॥ १७८ ॥

क्योंकि वेद में वाक्य के अन्तर्गत सुने हुए पदों में अर्थस्मृतिरूप नियम नहीं है । यहाँ अर्थ के अनुसार पदों की संगति लगा ली जाती है ॥ १७८ ॥

यदा नित्येषु वाक्येषु पदार्थस्तु विविच्यते ।
वाक्यार्थज्ञानसंक्रान्त्यै तदा प्रश्नो न युज्यते ॥ १७९ ॥

जब वाक्यार्थ के ज्ञान का संचार करने के लिए नित्यवाक्यान्तर्गत पद के अर्थ का विवेचन कर दिया गया तो शिष्य का कोई और प्रश्न करना उचित नहीं है[2] ॥ १७९ ॥

---

१ यहाँ यह संदेह हो सकता था कि लोक में सभी जगह ऐसा नियम देखा जाता है कि वाक्य में पहले उद्देश्य रहता है और पीछे विधेय । किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् पद जो विधेय है पहले है और उद्देश्यभूत त्वं-पद पीछे है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि वेद में पाठक्रम के अनुसार अर्थ करना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है । अर्थक्रम से पाठक्रम की विलक्षणता बहुत स्थानों में देखी जाती है । वहाँ अन्वयव्यतिरेकरूप प्रमाण के द्वारा उनका अर्थ के अनुसार अन्वय कर लेना चाहिये ।

२ पूर्वपक्षी आपत्ति करता है कि गुरु के यह उपदेश कर देने पर भी कि 'तू ब्रह्म है' शिष्य पूछता है—'मैं तो परिच्छिन्न हूँ, फिर अपरिच्छिन्न और नित्यस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ ?' ऐसी स्थिति में केवल वाक्यार्थमात्र से पदार्थज्ञान की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है । इसपर सिद्धान्ती कहता है—

अन्वयव्यतिरेकोक्तिः पदार्थस्मरणाय तु ।
स्मृत्यभावे न वाक्यार्थो ज्ञातुं शक्यो हि केनचित् ॥१८०॥

पहले (श्लोक १७७ में) जो अन्वय-व्यतिरेक के विषय में कहा गया है वह पदों के अर्थ को स्मरण रखने के लिये है; क्योंकि उसकी स्मृति के बिना कोई भी पुरुष वाक्य का अर्थ जानने में समर्थ नहीं है[1] । १८० ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु त्वंपदार्थाविवेकतः ।
व्यज्यते नैव वाक्यार्थो नित्यमुक्तोऽहमित्यतः ॥ १८१ ॥

"तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों में त्वं-पद के अर्थ का विवेक न होने के कारण 'मैं नित्य मुक्त स्वरूप हूँ' ऐसा वाक्यार्थ अभिव्यक्त नहीं होता ॥ १८१ ॥

अन्वयव्यतिरेकोक्तिस्तद्विवेकाय नान्यथा ।
त्वंपदार्थविवेके हि पाणावर्पितबिल्ववत् ॥ १८२ ॥
वाक्यार्थो व्यज्यते चैवं केवलोऽहंपदार्थतः ।
दुःखीत्येतदपोहेन प्रत्यगात्मविनिश्चयात् ॥ १८३ ॥

ऊपर जो अन्वय-व्यतिरेक का उल्लेख किया गया है वह उसी का विवेक कराने के लिए है, किसी अन्य प्रयोजन के लिये नहीं है । त्वं पद के अर्थ का विवेक हो जाने पर, अहं पद के अर्थ से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय का बाध कर देने पर प्राप्त हुए प्रत्यगात्मा के निश्चय द्वारा हाथ पर रखे हुए बिल्वफल के समान वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है[2] ॥ १८२—१८३ ॥

'जिस समय गुरु वाक्य के पदों का वास्तविक अर्थ बतलाकर शिष्य के अन्तःकरण में वाक्यार्थ का सञ्चार कर देता है उस समय शिष्य को फिर कोई शंका नहीं हो सकती । यह शंका तो तभी तक होती है जब तक उसे पदार्थ का बोध नहीं होता ।'

१ क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान तो पदों के अर्थज्ञान की स्मृति के ही अधीन है ।

२ 'तत्त्वमसि' महावाक्य का श्रुत अर्थ अखण्डार्थ अर्थात् माया और अज्ञान

तत्रैवं संभवत्यर्थे श्रुतहानाश्रुतार्थधीः ।
नैव कल्पयितुं युक्ता पदवाक्यार्थकोविदैः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार ['तत्वमसि' महावाक्य का] ऐसा अर्थ सम्भव होने पर पद और वाक्य का रहस्य जानने वालों को श्रुत अर्थ का त्याग और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी उचित नहीं है ॥ १८४ ॥

प्रत्यक्षादीनि बाधेरन्कुण्णलादिषु पाकवत् ।
अक्षजादिनिभैरेतैः कथं स्याद्वाक्यबाधनम् ॥१८५ ॥

[पूर्व०—] जिस प्रकार कुण्णल (सुवर्णकण) आदि का पाक नहीं हो सकता उसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण इस अखण्डार्थ का बाध कर देंगे। [सिद्धान्ती—] भला इन प्रत्यक्षाभासादि प्रमाणों के द्वारा महावाक्य का बाध कैसे हो सकता है ? ॥ १८५ ॥

दुःख्यस्मीति सति ज्ञाने निर्दुःखीति न जायते ।
प्रत्यक्षादिनिभत्वेऽपि वाक्यान्न व्यभिचारतः ॥ १८६ ॥

[पूर्व०—] 'किन्तु उपर्युक्त रीति से दुःखित्वाभिमान का प्रत्यक्षाभासत्व सिद्ध होते हुए भी 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर इस वाक्य से 'मैं दुःखहीन हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता' [सिद्धान्ती—] ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस (दुःखित्वज्ञान) का व्यभिचार देखा जाता है ॥ १८६ ॥

स्वप्ने दुःख्यहमभ्यासं दाहच्छेदादिहेतुतः ।
तत्कालभाविभिर्वाक्यैर्न बाधः क्रियते यदि ॥ १८७ ॥
समाप्तेस्तर्हि दुःखस्य प्राक्च तद्बाध इष्यताम् ।
न हि दुःखस्य संतानो भ्रान्तेर्वा दृश्यते क्वचित् ॥ १८८ ॥

के संसर्ग से रहित ब्रह्म एवं आत्मा की एकता है तथा अश्रुत अर्थ संसर्गादि हैं, जिसमें जीव और ईश्वर की स्वरूपगत एकता न होकर केवल चैतन्यरूप से उनकी समानता स्वीकार की जाती है।

[अब वह व्यभिचार दिखलाया जाता है] स्वप्नावस्था में 'मैं दाहच्छेदनादि कारणों से दुःखी था, पीछे आप्तोपदेश से दुःखहीन हो गया' [—ऐसा अनुभव होने के कारण दुःखित्व आत्मा का धर्म नहीं है]। यदि स्वप्नावस्था के वाक्यों से उसका बाध न भी किया गया हो तो उस दुःख की समाप्ति में और उससे पूर्व उसका बाध स्वीकार करो[1], क्योंकि [शुक्तिरजतादि] भ्रान्ति के समान आत्मा में दुःखपरम्परा भी कभी देखी नहीं जाती [वह तो आरोपित ही है] ॥ १८७–१८८ ॥

प्रत्यगात्मन आत्मत्वं दुःख्यस्मीत्यस्य बाधया ।
दशमं नवमस्येव वेद चेद्विरुद्धता ॥ १८९ ॥

जिस प्रकार लोक में नवम का बाध करके दशम पुरुष का ज्ञान होता है उसी प्रकार यदि [महावाक्य द्वारा] 'मैं दुःखी हूँ' इस ज्ञान का बाध करके प्रत्यगात्मा का आत्मत्व अनुभव हो जाता है तो भी [वाक्यार्थ की प्रबलता में] कोई विरोध नहीं हो सकता ॥ १८९ ॥

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद्भवति नान्यतः ।
वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥ १९० ॥

आत्मा की नित्यमुक्तता का ज्ञान भी वाक्य से ही होता है, किसी अन्य प्रमाण से नहीं। तथा वाक्यार्थ का ज्ञान भी पदों के अर्थ की स्मृतिपूर्वक ही हो सकता है ॥ १९० ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम् ।
एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

पदों के अर्थ का स्मरण निश्चय ही अन्वय-व्यतिरेक द्वारा होता है। इसी प्रकार पुरुष को दुःखहीन एवं अक्रिय आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ १९१ ॥

---

1 कारण दुःख के पूर्व और उसकी समाप्ति में तो दुःख का अभाव है ही। अतः वह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह आगन्तुक है और आत्मा नित्यसिद्ध है।

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत् ।
दशमस्त्वमसीत्यस्माद्यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥ १९२ ॥

जिस प्रकार 'तू दशम है' इस वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिवाक्यों द्वारा प्रत्यगात्मा में अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १९२ ॥

प्रबोधेन यथा स्वाप्नं सर्वदुःखं निवर्तते ।
प्रत्यगात्मधिया तद्वद् दुःखित्वं सर्वदाऽऽत्मनः ॥ १९३ ॥

जिस प्रकार जग पड़ने से स्वप्नसम्बन्धी सारा दुःख दूर हो जाता है उसी प्रकार प्रत्यगात्मबुद्धि से सर्वदा ही आत्मा के दुःखित्व की निवृत्ति हो जाती है ॥ १९३ ॥

कृष्णलादौ प्रमाजन्म तदन्यार्थाऽमृदुत्वतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु न त्वेवमविरोधतः ॥ १९४ ॥

'कृष्णलान् श्रपयेत्' (सुवर्णयवों को[1] उबाले) इत्यादि वाक्य में जो प्रमा की अनुत्पत्ति है वह तो दूसरे कारण से है। वह उनकी अमृदुत्ता (कठोरता) के कारण है। किन्तु "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनमें ऐसा कोई विरोध नहीं है ॥ १९४ ॥

वाक्ये तत्त्वमसीत्यस्मिञ्ज्ञातार्थं तदसिद्वयम् ।
त्वमर्थे सत्यसाहाय्याद्वाक्यं नोत्पादयेत्प्रमाम् ॥ १९५ ॥

"तत्त्वमसि" इस वाक्य में 'तत्' और 'असि' इन दो पदों का अर्थ तो ज्ञात है; किन्तु 'त्वम्' पद का अर्थ ज्ञात न होने पर उसकी सहायता न होने के कारण यह वाक्य प्रमा की उत्पत्ति नहीं कर सकता। [अतः त्वं-पद का शोधन करने के लिये ही विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है] ॥ १९५ ॥

---

१ यज्ञ में सुवर्ण के कृत्रिम यवों को दुग्धादि में उबाल कर चरु बनाया जाता है। उस समय सुवर्ण के यव उबाले जाने पर भी उनमें पाक क्रिया नहीं होती, किन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से प्रमा की अनुत्पत्ति नहीं होती।

तत्त्वमोस्तुल्यनीडार्थमसीत्येतत्पदं भवेत् ॥ १९६ ॥

'असि' यह पद 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करने के लिये ही है ॥ १९६ ॥

तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थस्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा ।
दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं वारयेतामुभावपि ॥ १९७ ॥

['तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य है, अतः] 'तत्' शब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा है तथा 'त्वम्' का अर्थ 'तत्' शब्दार्थभूत वस्तु है। [इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का अभेद होने के कारण] वे दोनों पद [त्वं पदार्थ के] दुःखित्व और [तत्पदार्थ के] अनात्मत्व का बाध करते हैं ॥१९७॥

एवं च नेतिनेत्यर्थं गमयेतां परस्परम् ॥ १९८ ॥

इस प्रकार वे परस्पर "नेति नेति" इस वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं ॥ १९८ ॥

एवं तत्त्वमसीत्यस्य गम्यमाने फले कथम् ।
अप्रमाणत्वमस्योक्त्वा क्रियापेक्षत्वमुच्यते ॥ १९९ ॥

इस तरह "तत्त्वमसि" इस वाक्य के फल का ज्ञान हो जाने पर इसका अप्रामाण्य अथवा क्रियापेक्षत्व कैसे कहा जा सकता है ? [इसके प्रामाण्य का वर्णन तो पहले किया ही जा चुका है] ॥ १९९ ॥

तस्मादाद्यन्तमध्येषु कुर्वित्येतद्विरोध्यतः ।
न कल्पामोऽश्रुतत्वाच्च श्रुतत्यागोऽप्यनर्थकः ॥ २०० ॥

अतः "तत्त्वमसि" इस वाक्य के [उपदेशरूप] आदि, [पदार्थशोधनरूप] मध्य और [निःसन्दिग्ध ब्रह्मानुभवरूप] अन्त में 'करो' इस प्रकार की विधि का विरोध होने के कारण और इस प्रकार की विधि श्रुतिमूलक न होने के कारण हम इसके क्रियापेक्षत्व की तो कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में [ब्रह्मात्मैक्यरूप] श्रुत अर्थ का त्याग भी व्यर्थ ही है ॥ २०० ॥

यथानुभूयते तृप्तिर्भुजेर्वाक्यान्न गम्यते ।
वाक्यस्य विधूतिस्तद्वद्दोशकृत्पायसीक्रिया ॥ २०१ ॥

पूर्व०—जिस प्रकार तृप्ति का अनुभव भोजन करेने से ही होता है, केवल वाक्यार्थमात्र से नहीं तथा जैसे गोबर से खीर का काम नहीं होता उसी प्रकार वाक्यार्थ को समझ लेना [वाक्य के अर्थभूत ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात् साधन नहीं] है ॥ २०१ ॥

सत्यमेवमनात्मार्थवाक्यात्पारोक्ष्यबोधनम् ।
प्रत्यगात्मनि न त्वेवं संख्याप्राप्तिवदध्रुवम् ॥ २०२ ॥

[सिद्धान्ती—] यह ठीक है, अनात्मवस्तु प्रतिपादक वाक्य से तो परोक्ष-ज्ञान ही होता है; किन्तु ['दशमस्त्वमसि' इस वाक्य से] दशम संख्या की प्राप्ति के समान प्रत्यगात्मा के विषय में ऐसा अनिश्चित ज्ञान नहीं होता ॥२०२॥

स्वयंवेद्यत्वपर्यायः स्वप्रमाणक इष्यताम् ।
निवृत्तावहमः सिद्धः स्वात्मनोऽनुभवश्च नः ॥ २०३ ॥

आत्मा को स्वयंप्रकाशस्वरूप और स्वतःप्रमाण जानो। हमारे सिद्धान्तानुसार जिसके अहंकार की निवृत्ति हो गयी है उसे आत्मा का अनुभव सिद्ध ही है ॥ २०३ ॥

बुद्धीनां विषयो दुःखं नो यस्य विषया मताः ।
कुतोऽस्य दुःखसंबन्धो दृशेः स्यात्प्रत्यगात्मनः ॥ २०४ ॥

दुःख तो बुद्धिवृत्तियों का विषय है; फिर जिसे विषय अभिमत ही नहीं हैं उस साक्षीस्वरूप प्रत्यगात्मा का दुःख से किस प्रकार सम्बन्ध हो सकता है ? ॥२०४॥

दृशिरेवानुभूयेत स्वेनैवानुभवात्मना ।
तदाभासतया जन्म धियोऽस्यानुभवः स्मृतः ॥ २०५ ॥

ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप अपने द्वारा ही अनुभव किया जाता है। चिदाभास की व्याप्ति से बुद्धिवृत्ति का उदय होना ही उसका अनुभव माना गया है ॥ २०५ ॥

अशनायादिनिर्मुक्तः सिद्धो मोक्षस्त्वमेव सः ।
श्रोतव्यादि तवेत्येतद्विरुद्धं कथमुच्यते ॥ २०६ ॥

क्षुधादि से रहित जो नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्मत्व) है वह तुम्हीं हो । तुम्हारे लिये श्रवणादि अनुष्ठेय हैं—ऐसी विरुद्ध बात क्यों कही जाती है ? ॥२०६॥

सेत्स्यतीत्येव चेत्तस्याच्छ्रवणादि तदा भवेत् ।
मोक्षस्यानित्यतैवं स्याद्विरोधे नान्यथा वचः ॥ २०७ ॥

यदि कहो कि आत्मा में क्रिया सिद्ध होती है, इसीलिये श्रवणादि किये जाते हैं, तो उस अवस्था में मोक्ष की अनित्यता सिद्ध होगी । इस प्रकार विरोध होने के कारण इस वाक्य की अन्य प्रकार से योजना नहीं की जा सकती ॥२०७॥

श्रोतृश्रोतव्ययोर्भेदो यदीष्टः स्याद्भवेदिदम् ।
इष्टार्थकोप एवं स्यान्न युक्तं सर्वथा वचः ॥ २०८ ॥

यदि श्रोता और श्रोतव्य विषयका भेद इष्ट हो तो यह (प्रसंख्यान—श्रवणादिकर्म) सम्भव हो सकता है । किन्तु ऐसा मानने से इष्ट अर्थ का परित्याग हो जायगा । अतः यह बात किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ २०८ ॥

सिद्धो मोक्षोऽहमित्येव ज्ञात्वात्मानं भवेद्यदि ।
चिकीर्षुर्यः स मूढात्मा शास्त्रं चोद्घाटयत्यपि ॥ २०९ ॥

जो मनुष्य 'मैं नित्यसिद्ध मोक्ष हूँ' इस प्रकार आत्मा को जानकर कर्म करने की इच्छा करता है वह मूढमति तो शास्त्र का उच्छेद ही करता है ॥२०९॥

नहि सिद्धस्य कर्तव्यं सकार्यस्य न सिद्धता ।
उभयालम्बनं कुर्वन्नात्मानं वञ्चयत्यपि ॥ २१० ॥

[क्योंकि—] सिद्ध वस्तु का कोई कर्तव्य नहीं होता और सक्रिय वस्तु की सिद्धता नहीं होती । लोग दोनों का [एक साथ] आलम्बन करके अपने को धोखे ही में डालते हैं[1] ॥ २१० ॥

[1] वस्तु दो प्रकार की होती हैं—सिद्ध और साध्य । प्रथम वस्तु वह है

सिद्धो मोक्षस्त्वमित्येतद्वस्तुमात्रं प्रदर्श्यते ।
श्रोतुस्तथात्वविज्ञाने प्रवृत्तिः स्यात्कथं त्विति ॥ २११ ॥

[पूर्व—] 'तुम नित्य सिद्ध मोक्ष (ब्रह्म) हो' ऐसा कहकर केवल वस्तुमात्र को प्रदर्शित किया जाता है । ऐसी अवस्था में वस्तुत्वविज्ञानमात्र में श्रोता की किस प्रकार प्रवृत्ति होगी ? ॥ २११ ॥

कर्ता दुःख्यहमस्मीति प्रत्यक्षेणानुभूयते ।
कर्ता दुःखी च माभूवमिति यत्नो भवेत्ततः ॥ २१२ ॥

जब यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि 'मैं कर्ता हूँ, दुःखी हूँ' तभी 'मैं कर्ता एवं दुःखी न होऊँ' इसके लिये प्रयत्न होता है ॥ २१२ ॥

तद्विज्ञानाय युक्त्यादि कर्तव्यं श्रुतिरब्रवीत् ।
कर्तृत्वाद्यनुवादेन सिद्धत्वानुभवाय तु ॥ २१३ ॥

उसके ज्ञान के लिये ही श्रुति ने कर्तृत्वादि का अनुवाद करते हुए सिद्धत्व का अनुभव कराने के लिये युक्ति आदि की कर्त्तव्यता का निरूपण किया है[1] ॥२१३॥

निर्दुःखो निष्क्रियोऽकामः सिद्धो मोक्षोऽहमित्यपि ।
गृहीत्वैव विरुद्धार्थमादध्यात्कथमेव सः ॥ २१४ ॥

[सिद्धान्ती—] 'मैं दुःखहीन, निष्क्रिय, निष्काम, नित्यसिद्ध मोक्ष ही हूँ'—

विद्यमान रहती हैं, अतः सिद्ध हैं तथा धर्मादि अनुष्ठेय होने के कारण साध्य हैं । मोक्ष आत्मा का स्वरूप है, अतः वह सिद्ध वस्तु है । सिद्ध वस्तु भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की होती है । नित्य वस्तु जन्य नहीं हुआ करती । अतः जो लोग मोक्ष को जन्य मानते हैं, उनके मतानुसार तो यह अनित्य सिद्ध होता है । अतः उनका ऐसा मानना भ्रमपूर्ण ही है ।

१ श्रुति 'श्रोतव्यः' ऐसा कह कर 'निदिध्यासितव्यः' ऐसा विधान करती है । इस प्रकार श्रवणमननादि की कर्तव्यता का उपदेश होने के कारण निश्चय होता है कि आत्मज्ञान के लिये क्रिया की आवश्यकता है । यहाँ तक पूर्वपक्षी का कथन है ।

ऐसा ग्रहण करके भी मनुष्य इससे विपरीत स्वभाववाले पदार्थों को कैसे ग्रहण कर सकता है ? ॥२१४॥

सकामः सक्रियोऽसिद्ध इति मेऽनुभवः कथम् ।
अतो मे विपरीतस्य तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ २१५ ॥

पूर्व०—[यदि वाक्य श्रवणमात्र से ही निर्दुःखादिरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तो] बताइये सकामत्वादि से विपरीत स्वभाव वाले मुझको 'मैं सकाम, सक्रिय और असिद्ध हूँ'—ऐसा क्यों अनुभव होता है ? ॥२१५॥

इहैव घटते प्रश्नो न मुक्तत्वानुभूतये ।
प्रमाणेन विरोधी यः सोऽत्रार्थः प्रश्नमर्हति ॥ २१६ ॥

सिद्धान्ती—[मैं अन्य स्वभाव होते हुए भी अन्य स्वभाव कैसे जान पड़ता हूँ—] इसी विषय में प्रश्न हो सकता है, मुक्तत्व की अनुभूति के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता; क्योंकि जो वस्तु प्रमाण से विरुद्ध [केवल प्रमाणाभासद्वारा रहित] होती है, लोक में उसी के विषय में प्रश्न किया जा सकता है ॥२१६॥

अहं निर्मुक्त इत्येव सदसीत्यन्यमानजः ।
प्रत्यक्षाभासजन्यत्वाद् दुःखित्वं प्रश्नमर्हति ॥ २१७ ॥

'मैं मुक्तस्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान तथा 'तू सत् है' ऐसा ज्ञान [श्रुतिरूप] अन्य प्रमाण से होने वाला है; किन्तु प्रत्यक्षाभासजनित होने के कारण दुःखित्व के विषय में प्रश्न किया जा सकता है ॥ २१७ ॥

पृष्टमाकाङ्क्षितं वाच्यं दुःखाभावमभीप्सितम् ॥ २१८ ॥

[क्योंकि] जिस वस्तु के विषय में प्रश्न किया जाता है वह अभिलषित कही जाती है और दुःखाभावरूप ब्रह्म सबको अभिलषित है ॥ २१८ ॥

कथं हीदं निवर्तेत दुःखं सर्वात्मना मम ।
इति प्रश्नानुरूपं यद्वाच्यं दुःखनिवर्तकम् ॥ २१९ ॥

मेरा यह संसाररूप दुःख किस प्रकार सर्वथा निवृत्त होगा ? इस प्रश्न के अनुरूप जो दुःख की निवृत्ति करने वाला हो उसी का वर्णन करना उचित

है। [इससे भी दुःखनिवृत्ति का साधनभूत ज्ञान ही श्रुति का प्रतिपाद्य है, कर्म नहीं] ॥ २१९ ॥

श्रुतेः स्वात्मनि नाशङ्का प्रामाण्ये सति विद्यते ।
तस्मादात्मविमुक्तत्वं प्रत्याययति तद्वचः ।
वक्तव्यं तत्तथार्थं स्याद्विरोधेऽसति केनचित् ॥ २२० ॥

श्रुति का स्वतःसिद्ध प्रामाण्य होने के कारण अपने प्रमेय के विषय में उसको शंका नहीं है। अतः उसका वचन आत्मा की मुक्तता का परिचय कराता है, और किसी प्रमाण के साथ विरोध न होने पर उसे वैसे ही अर्थ वाला बतलाना चाहिए ॥ २२० ॥

इतोऽन्योऽनुभवः कश्चिदात्मनो नोपपद्यते ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातारमिति श्रुतेः ॥ २२१ ॥

"ज्ञानियों की दृष्टि में आत्मा अविज्ञात है" तथा "विज्ञाता को किस प्रमाण के द्वारा जाने" इन श्रुतियों के अनुसार इससे भिन्न आत्मा का कोई और अनुभव होना सम्भव नहीं है ॥ २२१ ॥

त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
साधनत्वं व्रजत्येव शान्तो दान्तानुशासनात् ॥ २२२ ॥

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति'[1] ऐसी श्रुति होने के कारण त्वंपद के अर्थ का विवेक करने के लिये समस्त कर्मों का त्याग साधनत्व को प्राप्त होता है ॥ २२२ ॥

त्वमर्थं प्रत्यगात्मानं पश्येदात्मानमात्मनि ।
वाक्यार्थं तत आत्मानं सर्वं पश्यति केवलम् ॥ २२३ ॥

साधनसम्पन्न पुरुष को त्वंपद के अर्थभूत प्रत्यगात्मा का अपने अन्तःकरण

---

१ जिज्ञासु शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान से सम्पन्न हो अपने अन्तःकरण में ही आत्मा का साक्षात्कार करता है।

में आत्मस्वरूप से साक्षात्कार करना चाहिये। इसके पश्चात् वह सबको वाक्यार्थभूत शुद्ध आत्मा ही देखता है ॥ २२३ ॥

सर्वमात्मेति वाक्यार्थे विज्ञातेऽस्य प्रमाणतः ।
असत्त्वे ह्यन्यमानस्य विधिस्तं योजयेत्कथम् ॥ २२४ ॥

प्रमाण के द्वारा 'सब आत्मा ही है' इस वाक्यार्थ को विशेषरूप से जान लेने पर तथा अन्य प्रमाणों का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर उसे कोई विधि किस प्रकार नियोजित कर सकती है? ॥ २२४ ॥

तस्माद्वाक्यार्थविज्ञानान्नोर्ध्वं कर्मविधिर्भवेत् ।
नहि ब्रह्मास्मि कर्तेति विरुद्धे भवतो धियौ ॥ २२५ ॥

अतः वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाने के अनन्तर कोई कर्मविधि नहीं रह सकती, क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'मैं कर्ता हूं' ये दो विपरीत बुद्धियाँ कभी नहीं हो सकतीं ॥ २१५ ॥

ब्रह्मास्मीति च धीर्येयं नैव कर्तेति बाध्यते ।
सकामो बद्ध इत्येवं प्रमाणाभासजा तया ॥ २२६ ॥

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि ही ज्ञान है। इसका 'मैं कर्ता हूँ, सकाम हूँ, बद्ध हूँ' ऐसी प्रमाणाभासजनित बुद्धि के द्वारा बाध नहीं हो सकता ॥२२६॥

शास्त्राद् ब्रह्मास्मि नान्योऽहमिति बुद्धिर्भवेद् दृढा ।
यदाऽयुक्ता तदैवं धीर्यथा देहात्मधीरिति ॥ २२७ ॥

जिस समय शास्त्र के द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ' यह बुद्धि दृढ़ हो जाती है उस समय देहात्मबुद्धि के समान [मैं कर्ता हूँ] ऐसी बुद्धि उचित नहीं है ॥ २२७ ॥

सभयादभयं प्राप्तस्तदर्थं यतते च यः ।
स पुनः सभयं गन्तुं स्वतन्त्रश्चेन्न गच्छति ॥ २२८ ॥

क्योंकि वेदवाक्य प्रमाण जनित है और कर्तृत्वादि बुद्धि भ्रमरूप है।

जो पुरुष भययुक्त स्थान से निकल कर निर्भय स्थान में पहुँच गया है, और उसी के लिये जो यत्न भी करता है, वह यदि जाने-आने में स्वतन्त्र है तो पुनः भययुक्त स्थान में नहीं जा सकता ॥ २२८ ॥

यथेष्टाचरणप्राप्तिः संन्यासादिविधौ कुतः ।
पदार्थज्ञानवुद्धस्य वाक्यार्थानुभवार्थिनः ॥ २२९ ॥

जिस पुरुष के 'तत्' एवं 'त्वम्' पद के सम्यक् विचार से बोध प्राप्त हुआ है तथा जो वाक्यार्थ का अनुभव करना चाहता है उसके लिये संन्यासादि विधि होते हुए स्वेच्छाचार की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ २२९ ॥

अतः सर्वमिदं सिद्धं यत्प्रागस्माभिरीरितम् ॥ २३० ॥

अतः पहले हम जो कुछ कह चुके हैं वह सभी सिद्ध हो गया ॥ २३० ॥

यो हि यस्माद्विरक्तः स्यान्नासौ तस्मै प्रवर्तते ।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥ २३१ ॥

जो पुरुष जिससे विरक्त होता है उसके प्रति वह प्रवृत्त नहीं हुआ करता । फिर तीनों लोकों से विरक्त होने के कारण मुमुक्षु किस वस्तु की इच्छा करेगा ? ॥ २३१ ॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मृष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥ २३२ ॥

जो पुरुष भूख से व्याकुल है वह भी विषभक्षण करना नहीं चाहता । फिर जिसकी अन्नेच्छा मधुर अन्न से शान्त हो चुकी है वह मोहहीन ज्ञानवान् पुरुष तो उसे खाने की इच्छा कर ही नहीं सकता[1] ॥ २३२ ॥

वेदान्तवाक्यपुष्पेभ्यो ज्ञानामृतमधूत्तमम् ।
उज्जहारालिवद्यो नस्तस्मै सद्गुरुवे नमः ॥ २३३ ॥

जिन्होंने भ्रमर के समान वेदान्तवाक्यरूप पुष्पों से हमारे लिए ज्ञानामृतरूप उत्तम मधु निकाला है उन सद्गुरुदेव को नमस्कार है ॥ २३३ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि जिन विषयों को जिज्ञासु अवस्था में दोषबुद्धिपूर्वक त्याग दिया जाता है उन्हें बोधवान् किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकता ।

आत्ममनःसंवाद प्रकरण ॥ १९ ॥

प्रयुज्य तृष्णाज्वरनाशकारणं,
चिकित्सतं ज्ञानविरागभेषजम् ।
न याति कामज्वरसन्निपातजां,
शरीरमालां शतयोगदुःखिताम् ॥ १ ॥

मनुष्य तृष्णारूपी ज्वर के नाश की कारण तथा ज्ञान-वैराग्यरूपी औषध-वाली चिकित्सा का प्रयोग कर कामज्वरजनित मूर्छा से होने वाली तथा सैकड़ों विषयों के सम्बन्ध से दुःखमयी शरीर परम्परा को प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

अहं ममेति त्वमनर्थमीहसे,
परार्थमिच्छन्ति तवान्य ईहितम् ।
न तेऽर्थबोधो न हि मेऽस्ति चार्थिता,
ततश्च युक्तः शम एव ते मनः ॥ २ ॥

[अब इस औषध प्रयोग प्रकरण का आत्ममनःसंवादरूप से विस्तार करते हैं—] हे मन ! तू अहम्-ममरूप से व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। अन्य (सांख्यवादी) लोग तेरी चेष्टा को परार्थ (पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये) मानते हैं। किन्तु तुझे तो मेरा प्रयोजनीय विषय ज्ञात नहीं है और मुझे कुछ मांगना नहीं है। ऐसी अवस्था में हे मन ! तेरा शान्त हो जाना ही उचित है ॥ २ ॥

यतो न चान्यः परमात्सनातना-
त्सदैव तृप्तोऽहमतो न मेऽर्थिता ।
सदैव तृप्तश्च न कामये हितं,
यतस्व चेतः प्रशमाय ते हितम् ॥ ३ ॥

क्योंकि मैं पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं हूँ और सदा ही तृप्त हूँ; अतः मुझे किसी चीज की इच्छा नहीं है। मैं सर्वदा ही तृप्त हूँ और अपने लिए किसी हित की कामना नहीं करता। हे चित्त ! तू शान्त होने के लिये प्रयत्न कर, यही तेरे लिये हितकर है ॥ ३ ॥

षडूर्मिमालाभ्यतिवृत्त एव यः,
　　स एव चात्मा जगतश्च नः श्रुतेः ।
प्रमाणतश्चापि मया प्रवेद्यते,
　　मुधैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥ ४ ॥

जो क्षुधा-पिपासादि [1]षडूर्मिमाला को पार किये हुए है वही हमारा और जगत् का आत्मा है। उसे [2]श्रुति और [3]स्मृति प्रमाण से हम सम्यक् प्रकार से जानते हैं। अतः हे मन ! तेरी दौड़-धूप व्यर्थ ही है ॥ ४ ॥

त्वयि प्रशान्ते नहि चास्ति भेदधी-
　　र्यतो जगन्मोहमुपैति मायया ।
ग्रहो हि मायाप्रभवस्य कारणं,
　　ग्रहाद्विमोके नहि सास्ति कस्यचित् ॥ ५ ॥

तेरे शान्त हो जाने पर भेदबुद्धि नहीं रहती, जिसके कारण कि संसार मायावश मोह को प्राप्त हो रहा है; क्योंकि भेदज्ञान माया की उत्पत्ति का कारण है, उसके निवृत्त होते ही वह (माया) भी किसी के लिये नहीं रह सकती ॥५॥

न मेऽस्ति मोहस्तव चेष्टितेन हि,
　　प्रबुद्धतत्त्वस्त्वसितो ह्यविक्रियः ।
न पूर्वतत्त्वोत्तरभेदता हि नो,
　　वृथैव तस्माच्च मनस्तवेहितम् ॥ ६ ॥

तेरी चेष्टा से मुझे मोह नहीं हो सकता, क्योंकि मैं ज्ञाततत्त्व, बन्धनरहित एवं अविकारी हूँ। क्योंकि हमारी दृष्टि में तत्त्वज्ञान के पूर्व एवं उत्तरकाल में कोई अन्तर नहीं है, इसलिये हे मन ! तेरी चेष्टा व्यर्थ ही है ॥ ६ ॥

---

१ क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये छः ऊर्मियाँ हैं।
२ 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः' आदि ।
३ 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इत्यादि ।

यतश्च नित्योऽहमतो न चान्यथा,
विकारयोगे हि भवेदनित्यता ।
सदा प्रभातोऽहमतो हि चाद्वयो,
विकल्पितं चाप्यसदित्यवस्थितम् ॥ ७ ॥

क्योंकि मैं नित्य हूँ, अतः मेरे में अनित्यता नहीं है। कारण अनित्यता तो विकार का योग होने पर ही होती है। मैं सर्वदा प्रकाशस्वरूप हूँ, अतः अद्वय हूँ। जो कुछ दृश्य है वह असत् है—यह बात निश्चित है ॥ ७ ॥

अभावरूपं त्वमसीह हे मनो,
निरीक्ष्यमाणे न हि युक्तितोऽस्तिता ।
सतो ह्यनाशादसतोऽप्यजन्मतो
द्वयं च चेतस्तव नास्तितेष्यते ॥ ८ ॥

हे मन ! तू अभावरूप है; युक्तिपूर्वक विचार करने पर तेरा अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। और हे चित्त ! तेरे में ये (उत्पत्ति और नाश) दोनों हैं; अतः तेरी परमार्थ-सत्ता इष्ट नहीं है ॥ ८ ॥

द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं
भ्रमस्तु सर्वस्तव कल्पितो हि सः ।
दृशेश्च भिन्नं न हि दृश्यमीक्ष्यते,
स्वपन्प्रबोधेन तथा न भिद्यते ॥ ९ ॥

[हे मन !] द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप जो भ्रम है सो सब तेरा ही कल्पना किया हुआ है; क्योंकि द्रष्टा से भिन्न दृश्य नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्वप्नगत आत्मा जाग्रद् अवस्था के द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होता। [तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वह स्वप्नावस्था में भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी अभिन्न ही है उसी प्रकार जाग्रद् अवस्था में भी उसमें कोई भेद नहीं होता] ॥ ९ ॥

विकल्पना वापि तथाद्वया भवे-
दवस्तुयोगात्तदलातचक्रवत् ।
न शक्तिभेदोऽस्ति यतो न चात्मनां
ततोऽद्वयत्वं श्रुतितोऽवसीयते ॥ १० ॥

इसी प्रकार अवस्तु से सम्बन्धित होने के कारण विकल्प[1] भी अलातचक्र के समान अद्वय ही होता है। क्योंकि आत्माओं का परस्पर शक्तिभेद नहीं है, अतः श्रुति के द्वारा उनका अभेद सिद्ध होता है ॥ १० ॥

मिथश्च भिन्ना यदि ते हि चेतनाः,
क्षयस्तु तेषां परिमाणयोगतः ।
ध्रुवो भवेद्भेदवतां हि दृष्टतो,
जगत्क्षयश्चापि समस्तमोक्षतः ॥ ११ ॥

यदि वे आत्मा परस्पर भिन्न हैं तो परिमित होने के कारण उनका निश्चय क्षय होगा, क्योंकि भेदयुक्त पदार्थों का क्षय देखा गया है। तथा समस्त प्राणियों की मुक्ति हो जाने पर संसार का भी उच्छेद हो जायगा ॥ ११ ॥

न मेऽस्ति कश्चिन्न च सोऽस्मि कस्यचि-
द्यतोऽद्वयोऽहं न हि चास्ति कल्पितम् ।
अकल्पितश्चास्मि पुरा प्रसिद्धितो,
विकल्पनाया द्वयमेव कल्पितम् ॥ १२ ॥

कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं ही किसी का हूँ, क्योंकि मैं अद्वय

---

१ योगसूत्र में भी विकल्प का लक्षण ऐसा ही किया है:—

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।'

अर्थात् जो शब्द ज्ञान का तो अनुगमन करता हो, किन्तु वस्तुशून्य हो उसे विकल्प कहते हैं।

हूँ तथा कल्पित पदार्थ की सत्ता नहीं है। मैं तो विकल्पना से पूर्वसिद्ध होने के कारण अकल्पित हूँ, कल्पित तो द्वैत ही है ॥ १२ ॥

विकल्पना चाप्यभवे न विद्यते,
सदन्यदित्येवमतो न नास्तिता।
यतः प्रवृत्ता तव चापि कल्पना,
पुरा प्रसिद्धेर्न च तद्विकल्पितम् ॥ १३ ॥

जिसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती उस [नित्य] आत्मा में सत् एवं असत् ऐसी कल्पना भी नहीं है। अतः उसका अभाव भी नहीं है। जिससे तुम्हारी कल्पना प्रवृत्त हुई है वह आत्मा पूर्वसिद्ध होने के कारण कल्पित नहीं है ॥१३॥

असद्द्वयं तेऽपि हि यद्यदीक्ष्यते,
न दृष्टमित्येव न चैव नास्तिता।
यतः प्रवृत्ता सदसद्विकल्पना,
विचारवद्वापि तथाऽद्वयं च सत् ॥ १४ ॥

[हे मन !] तेरे द्वारा जो-जो भी देखा जाता है वह द्वैतसमुदाय असत् ही है। दिखलायी नहीं देता—इसी से किसी पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार विचार का पर्यवसान निर्णय में होता है उसी प्रकार जिससे सत् और असत् की कल्पना प्रवृत्त हुई है वह [कल्पना की अधिष्ठानभूत वस्तु] अद्वय एवं सत् ही है ॥ १४ ॥

सदस्त्युपेतं भवतोपकल्पितं,
विचारहेतोर्यदि तस्य नास्तिता।
विचारहानाच्च तथैव संस्थितं,
न चेत्तदिष्टं नितरां सदिष्यते ॥ १५ ॥

[तुम कहते हो कि कोई सद्वस्तु नहीं है। किन्तु इसका निर्णय करने के लिये तुम्हें विचार करना होता है या नहीं ? यदि तुम इसके लिये विचार के

आवश्यकता स्वीकार करते हो तो] तुम 'सत्' वस्तु की सत्ता स्वीकार कर ही लेते हो; क्योंकि विचार की सिद्धि के लिये किसी एक वस्तु की सत्ता [सभी विचारकों द्वारा] स्वीकार की जाती है। [1]यदि उसका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो विचार की अप्रवृत्ति होने के कारण [कोई परमार्थ-निर्णय न हो सकने से] वह तत्त्व वैसा (अनिर्णीत) ही रह जाता है। अतः यदि ऐसा होना इष्ट नहीं है तो सद्वस्तु निश्चय ही स्वीकार्य है ॥ १५ ॥

असत्समं चैव सदित्यपीति चे-
दनर्थवत्त्वान्नरशृङ्गतुल्यतः ।
अनर्थवत्त्वं त्वसति ह्यकारणं,
न चैव तस्मान्न विपर्ययेऽन्यथा ॥ १६ ॥

[पूर्व०—] यदि 'सत् है' ऐसा स्वीकार भी किया जाय तो अर्थक्रियाशून्य होने के कारण मनुष्य के सींगों के समान होने से अलीक ही होगा। [सिद्धान्ती—] अर्थक्रियाशून्यत्व तो वस्तु की असत्ता में कारण नहीं है, तथा उससे (अर्थक्रिया-कारित्व से] वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः इससे विपरीत अवस्था में वस्तु का अभाव भी सम्भव नहीं है[2] ॥ १६ ॥

---

१ विचार करने के लिये वादी और प्रतिवादी को अपने विवाद की आश्रय-भूत कोई वस्तु स्वीकार करनी ही पड़ती है; अन्यथा विवाद हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार यदि यह निर्णय करना है कि आत्मा सगुण है या निर्गुण तो दोनों ही पक्षों को धर्मी आत्मा की सत्ता तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी, अन्यथा उसके धर्म सगुणत्व या निर्गुणत्व का विचार ही कैसे हो सकेगा ?

२ बौद्धों का कथन है कि जो वस्तु सत् होती है वह सक्रिय होने के कारण दीपशिखा के समान क्षणिक होती है और जो सक्रिय नहीं होती वह असत् होती है। अतः परमार्थ-वस्तु 'सत्' नहीं हो सकती। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि कण्टकादि के अभाव में भी पादन्यासरूप क्रिया हो सकती है तथा क्रिया की उत्पत्ति से पूर्व भी वस्तु की सत्ता देखी जाती है। अतः अर्थक्रिया-कारित्व से रहित भी सद्वस्तु हो सकती है।

असिद्धतश्चापि विचारकारणाद्,
द्वयं च तस्मात्प्रसृतिं च मायया।
श्रुतेः स्मृतेश्चापि तथा हि युक्तितः,
प्रसिद्ध्यतीत्थं न तु युज्यतेऽन्यथा ॥ १७ ॥

इसके सिवा असिद्ध होने के कारण भी [तुम्हारा यह अनुमान ठीक नहीं है]। विचार के कारणभूत आत्मा से ही मायावश द्वैत का विस्तार हुआ है। श्रुति, स्मृति और युक्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है; इसके अन्य प्रकार होना युक्तियुक्त नहीं है[1] ॥ १७ ॥

विकल्पनाच्चापि विधर्मकं श्रुतेः,
पुरा प्रसिद्धेश्च विकल्पतोऽद्वयः।
न चेति नेतीति यथा विकल्पितं,
निषिध्यतेऽत्राप्यवशेषसिद्धये ॥ १८ ॥

[यदि कहो कि समस्त विकल्प का कारण होने से आत्मा सर्वविकल्प-विशिष्ट होना चाहिये—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] श्रुतिप्रमाण से तथा विकल्प से पूर्व भी विद्यमान रहने के कारण अद्वितीय आत्मा विकल्प से भिन्न स्वभाववाला है। जिस प्रकार अवशिष्ट वस्तु की सिद्धि के लिये "नेति नेति" वाक्य द्वारा विकल्प का निषेध किया जाता है उसी तरह आत्मा का निषेध नहीं होता[2] ॥ १८ ॥

१ पूर्व श्लोक में व्यभिचार दोष दिखलाकर बौद्धों के मत का खण्डन किया है। अब उसमें पक्षासिद्धिरूप दोष दिखलाते हैं। क्योंकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इस श्रुति से, "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" इस स्मृति से तथा कार्य का वाचारम्भणत्व भी कोई सद्रूप अधिष्ठान होने पर ही सम्भव है—इस युक्ति से भी सर्वाधिष्ठानभूत परमार्थ-तत्त्व सत् ही हो सकता है, असत् नहीं। अतः अर्थक्रियाकारित्व का अभाव वस्तु की असत्ता का कारण है—यह हेतु असिद्ध है।

२ शुक्ति में आरोपित रजत के समान प्रत्येक आरोपित वस्तु असत् होती है।

अकल्पितेऽप्येवमजेऽद्वयेऽक्षरे,
विकल्पयन्तः सदसच्च जन्मभिः ।
स्वचित्तमायाप्रभवं च ते भवं,
जरां च मृत्युं च नियान्ति संततम् ॥ १६ ॥

जो लोग अविकल्पित (कूटस्थ), अजन्य, अद्वय और अविनाशी आत्मा में सत् असत् तथा कर्तृत्वादि की कल्पना करते हैं वे निरन्तर तिर्यक्-मनुष्यादि योनियों के द्वारा अपने बुद्धिभ्रम से कल्पित जन्म जरा एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

भवाभवत्वं तु न चेदवस्थिति-
र्न चास्य चान्यस्थितिजन्म नान्यथा ।
सतो ह्यसत्त्वादसतश्च सत्त्वतो,
न च क्रिया कारकमित्यतोऽप्यजम् ॥ २० ॥

यदि [परस्परविरुद्ध होने के कारण] द्वैत के उत्पत्तिस्वरूप को स्वीकार नहीं करते तो उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती[1] । [यदि इसकी उत्पत्ति मानी जाय तो] इसका जन्म न तो किसी अन्य सत् वस्तु से हो सकता है और न असत् से, क्योंकि [उत्पत्ति शील होने से] सत् तो [विकारी होने के कारण] असत् सिद्ध होगा और [उपादान होने के कारण] असत् सत् हो जायगा । अतः क्रिया-कारक कुछ भी नहीं है; एक निर्विशेष अजन्मा आत्मा ही है ॥२०॥

किन्तु इसका अधिष्ठान सत्य होता है । आत्मा सम्पूर्ण विकल्प का अधिष्ठान है । अतः विकल्प मात्र मिथ्या है, आत्मा नहीं । इसलिए 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से केवल आरोपित विकल्प का ही बाध किया जाता है, उसके अधिष्ठानभूत परमार्थसत्य आत्मा का नहीं ।

१ क्योंकि कोई भी सद्वस्तु उत्पत्ति एवं अनुत्पत्ति दोनों से ही विलक्षण-स्वभाववाली नहीं देखी जाती ।

अकुर्वदिष्टं यदि वास्य कारकं
न किंचिदन्यन्नु नास्त्यकारकम् ।
सतो विशेषादसतश्च सच्च्युतौ
तुलान्तयोर्यद्वदनिश्चयान्न हि ॥ २१ ॥

यदि इस द्वैतवर्ग के कारक को निष्क्रिय माना जाय तो ऐसी कोई वस्तु नहीं रहती जो इसका कारक न हो सके[1] और यदि उसे अन्य प्रकार का [यानी सक्रिय] माना जाय तो भी उसका कारकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सत् और असत् दोनों ही अवस्थाओं में समान रहेगा। और यदि उस सत् या असत् के सत्त्व या असत्व की च्युति होने पर उनका कारकत्व माना जाय तो जिस प्रकार तुलादण्ड के उठने और झुकने में कौन किसका कारण है—यह निश्चय नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उनके कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता[2] ॥ २१ ॥

१ उस अवस्था में सभी इसके कारक हो सकते हैं, क्योंकि क्रियाहीन तो तो सभी वस्तुएँ हो सकती हैं।

२ यदि सक्रिय वस्तु को द्वैत का कारण माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि वह स्वभाव से सक्रिय है या किसी की अपेक्षा से। यदि स्वभाव से सक्रिय है तो उसकी क्रिया नित्य होने के कारण उससे सर्वदा कार्य की उत्पत्ति होती रहेगी। और यदि वह किसी की अपेक्षा से उसे सक्रिय मानेंगे उसके विषय में भी यही विकल्प होने के कारण अनवस्था आदि दोषों की प्राप्ति हो जायगी। अतः वह सत् हो अथवा असत् दोनों ही प्रकार से उसका कारकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सत् होने पर तो वह सर्वदा सत् ही रहेगो और असत् होने पर सदा असत् रहेगा। यदि कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके सत्त्व या असत्व की च्युति मानी जाय तो उसके स्वरूप में विरूपता आ जाती है तथा उस अवस्था में यह भी प्रश्न होता है कि वह अवस्थाच्युति और कार्य की उत्पत्ति एक काल में होती हैं या क्रमशः। इनमें पहला पक्ष तो सम्भव नहीं है, क्योंकि तराजू के पलड़ों के झुकने और उठने में जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि कौन किसका

न चेत्स इष्टः सदसद्विपर्ययः
कथं भवः स्यात्सदसद्व्यवस्थितौ ।
विभक्तमेतद् द्वयमप्यवस्थितं,
न जन्म तस्माच्च मनो हि कस्यचित् ॥ २२ ॥

यदि यह सत् और असत् का विपरीत भाव को प्राप्त होना इष्ट नहीं है तो सत् और असत का स्वरूप निश्चित रहते हुए द्वैत की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि ये सत् और असत् दोनों ही परस्पर संसर्ग शून्य रहते हुए स्थित हैं। अतः हे मन ! किसी की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है ॥ २२ ॥

अथाभ्युपेत्यापि भवंत चेच्छतो,
ब्रवीमि नार्थस्तव चेष्टितेन मे ।
न हानवृद्धी न यतः स्वतोऽसतो,
भवोऽन्यतो वा यदि वाऽस्तिता तयोः ॥ २३ ॥

तथापि तेरा जन्म स्वीकार करके भी मैं कहता हूँ कि जन्म की इच्छा करने तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन या हानि-लाभ नहीं है, क्योंकि जिनकी स्वयं आत्मा में सत्ता नहीं है वे हानि लाभ किसी दूसरे कारण से होते सम्भव नहीं हैं। और यदि आत्मा में उनकी सत्ता हो भी तो भी तेरी चेष्टा से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २३ ॥

ध्रुवा ह्यनित्याश्च न चान्ययोगिनो,
मिथश्च कार्यं न च तेषु युज्यते ।
अतो न कस्यापि हि किंचिदिष्यते,
स्वयं च तत्त्वं न निरुक्तिगोचरम् ॥ २४ ॥

कारण है उसी प्रकार उनके कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं हो सकता और यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि अवस्था च्युति भी एक कार्य ही है, अतः उसे भी ऐसी ही अवस्थाच्युति की पहले आवश्यकता होगी

स्थिर और क्षणिक पदार्थों का न तो किसी अन्य से सम्बन्ध होता है और न परस्पर ही, तथा उनमें कोई कार्य होना भी सम्भव नहीं है। अतः कोई किसी का सम्बन्धी इष्ट नहीं है; स्वयं आत्मतत्त्व भी वाक्य का विषय नहीं है ॥ २४ ॥

समं तु तस्मात्सततं विभातवद्,
द्वयाद्विमुक्तं सदसद्विकल्पितात्।
निरीक्ष्य युक्त्या श्रुतितस्तु बुद्धिमा-
नशेषनिर्वाणमुपैति दीपवत् ॥ २५ ॥

अतः उस समस्वरूप, नित्यप्रकाशमय, सदसद्विकल्परूप-द्वैत से रहित आत्मतत्त्व का श्रुति और युक्ति से साक्षात्कार कर बुद्धिमान् पुरुष दीपक के [निर्वाण के] समान समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

अवेद्यमेकं यदनन्यवेदिनां,
कुतार्किकाणां च सुवेद्यमन्यथा।
निरीक्ष्य चेत्थं त्वगुणग्रहोऽगुणं,
न याति मोहं ग्रहदोषमुक्तितः ॥ २६ ॥

जो आत्मा से भिन्न कोई और पदार्थ नहीं देखते यह अद्वितीय आत्मतत्त्व उनके ज्ञान का विषय नहीं है, अन्यथा वह कुतार्किकों के लिये भी सुवेद्य हो जायगा। शरीरादि में अभिनिवेशशून्य हुआ पुरुष इस प्रकार निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार कर मिथ्याज्ञानरूप दोष से मुक्त होने के कारण फिर मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥

अतोऽन्यथा न ग्रहनाश इष्यते,
विमोहबुद्धेर्ग्रह एव कारणम्।
ग्रहोऽप्यहेतुस्त्वनलस्त्वनिन्धनो,
यथा प्रशान्तिं परमां तथा व्रजेत् ॥ २७ ॥

इस आत्मज्ञान से भिन्न किसी अन्य कारण द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश नहीं माना जाता। मिथ्या ज्ञान ही मोहबुद्धि का कारण है। जिस प्रकार इन्धन-शून्य अग्नि शान्त हो जाता है उसी प्रकार अपने कारण से रहित मिथ्याज्ञान भी आत्यन्तिक निवृत्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

विमथ्य वेदोदधितः समुद्धृतं,
सुरैर्महाब्धेस्तु यथा महात्मभिः ।
तथाऽमृतं ज्ञानमिदं हि यैः पुरा,
नमो गुरुभ्यः परमीक्षितं च यैः ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्य-
शिष्यस्य भगवतः श्रीमच्छङ्कराचार्यस्य कृतिः सकल-
वेदोपनिषत्सारभूतोपदेशसाहस्री समाप्ता ॥

जिस प्रकार पूर्वकाल में महामना देवताओं ने समुद्र मन्थन द्वारा अमृत प्राप्त किया था उसी प्रकार जिन्होंने वेदरूप महासागर का मन्थन कर इस ज्ञानामृत का उद्धार किया तथा परमात्मा का भी साक्षात्कार किया उन गुरुदेव को नमस्कार है ॥ २८ ॥

इति मुनिलाल रचित उपदेशसाहस्री भाषानुवाद समाप्त

ॐ तत्सत्

—:o:—

मुद्रक—पं० वैकुण्ठनाथ भार्गव, आनन्दसागर प्रेस, गायघाट, बनारस १.